

खामोश साज़िश से अज़ीम बेदारी तक

हिंदुस्तानी मुसलमानों की दास्तान-ए-ज़वाल और
मुस्तक़बिल का रास्ता

Article 14
Article 15
Article 25
Article 28
Article 29
Article 30
Article 350B



लेखक : डॉ. सैयद नासिर शाह

Published By : Qalamse.com

खामोश साज़िश से अज़ीम बेदारी तक

हिंदुस्तानी मुसलमानों की दास्तान-ए-ज़वाल और मुस्तक़बिल का रास्ता

लेखक : डॉ. सैयद नासिर शाह

© 2025, डॉ. सैयद नासिर शाह

Published By : Qalamse.com (Official Website)

तशक्कुर (शुक्रिया नामा)

सबसे पहले मैं **अल्लाह रब्ब-उल-इज़्ज़त** का बे-पायाँ शुक्र अदा करता हूँ, जिसकी अता करदा बेहिसाब नेमतों और करम के बग़ैर मेरा कोई भी काम मुकम्मल नहीं हो सकता। उसी की तौफ़ीक़ और रहमत से मुझे यह हिम्मत और शऊर मिला कि मैं अपने ख्यालात, मुआशरे के दर्द और अपनी फ़िक्र को अल्फ़ाज़ के साँचे में ढाल सकूँ और अपनी इस किताब, **“खामोश साज़िश से अज़ीम बेदारी तक (हिंदुस्तानी मुसलमानों की दास्तान-ए-ज़वाल और मुस्तक़बिल का रास्ता)”** को मुकम्मल कर सकूँ।

“खामोश साज़िश से अज़ीम बेदारी तक (हिंदुस्तानी मुसलमानों की दास्तान-ए-ज़वाल और मुस्तक़बिल का रास्ता)” को कागज़ के पन्नों पर उतार कर आप तक पहुँचाने के इस सफ़र में, मैं **Qalamse.com** की पूरी टीम का निहायत ममनून और शुक्रगुज़ार हूँ। एक मुसन्निफ़ के लिए उसकी तहरीर ही सब कुछ होती है, और **Qalamse.com** ने मेरी इस कोशिश पर जो ऐतमाद जताया और इसे निहायत खूबसूरती के साथ पब्लिश करके मंज़र-ए-आम पर लाने का ज़िम्मा उठाया, उसके लिए मैं उनका तहे-दिल से शुक्रिया अदा करता हूँ। उनकी बेहतरीन रहनुमाई और पेशेवर मदद के बिना इस किताब का इस उम्दा शक़ल में सामने आना मुमकिन नहीं था। उन तमाम अहबाब का भी शुक्रिया जिन्होंने किसी भी तरह से इस सफ़र में मेरा साथ दिया और मेरा हौसला बढ़ाया।

दुआगो,
डॉ. सैयद नासिर शाह
लेखक / विचारक

इंतिसाब

यह किताब, “खामोश साज़िश से अज़ीम बेदारी तक (हिंदुस्तानी मुसलमानों की दास्तान-ए-ज़वाल और मुस्तक़बिल का रास्ता)” जिसके हर वरक़ पर मुआशरे का दर्द और एक कड़वी हकीकत रक़म है, मैं निहायत अकीदत के साथ मंसूब करता हूँ:

अपने मरहूम वालिद **जनाब डॉ. सैयद मशहूद अली** और शफीक वालिदा मोहतरमा **सबीहा जबीन** के नाम, जिनकी पाकीज़ा तरबियत और दुआओं ने मुझे हमेशा हक़ और सच की राह पर चलने का हौसला बख़्शा।

अपने अज़ीज़ मरहूम बड़े भाई **डॉ. सैयद यासिर यज़दानी** के नाम, जिनकी बे-लौस मुहब्बत और हसीन यादें मेरे दिल का कीमती सरमाया हैं, और जिनकी जुदाई का दर्द आज भी मेरी रूह में ताज़ा है।

अपनी शरीक-ए-हयात **रुख़सार नासिर** और **नाबिश** के नाम, जिन्होंने इस तवील, कठिन और सब्र-आज़मा फिक्री सफ़र में हर कदम पर मेरा खामोश और मज़बूत साथ दिया। और अपनी तीनों बेटियों, **सय्यदा ज़ैनब फातिमा**, **अज़ीज़ा ज़हरा मरवा** और **अज़ीज़ा इरहा हयात** के नाम, इस उम्मीद, दुआ और यकीन के साथ कि उनका मुस्तक़बिल एक ऐसे मुआशरे में परवान चढ़ेगा जो खौफ के बजाय अदल, तालीम, बराबरी और बा-वकार शऊर पर मबनी हो।

दुआ-ए-मगफिरत की खास दरखास्त

मैं इस किताब के तमाम कारीर्डन (पढ़ने वालों) से निहायत आजिज़ी, खुलूस और अदब के साथ दरखास्त करता हूँ कि वह अपनी दुआओं में मेरे खानदान के उन अज़ीम बुजुर्गों और अज़ीज़ों को ज़रूर याद रखें जो अब इस दुनिया-ए-फानी से रुखसत हो चुके हैं। उनका इल्मी, रूहानी और समाजी विरसा ही मेरी असल ताक़त है और उन्हीं की पाकीज़ा तरबियत का सदका है कि मैं हक़ की इस जद्दोज़हद में अपना कदम बढ़ा सका। मेरी आपसे इल्तिजा है कि अल्लाह रब्ब-उल-इज़ज़त की बारगाह में इन तमाम अरवाह-ए-तैय्यबा की मगफिरत, उनके दर्जात की बुलंदी और जन्नत-उल-फिरदौस में आला मकाम के लिए खुसूसी दुआ फरमाएं:

- मेरे परनाना : **अल्लामा अनवर शाह कश्मीरी साहब**
- मेरे परदादा : **हकीम सैयद महफूज़ अली साहब**
- मेरे दादा : **हकीम सैयद महमूद अली साहब**
- मेरी दादी : **सय्यदा आबिदा खातून**
- मेरे नाना : **सैयद अज़हर शाह कैसर साहब**
- मेरी नानी : **सय्यदा राशदा खातून**
- मेरे मोहतरम वालिद : **डॉ. सैयद मशहूद अली साहब**
- मेरे मामा : **सैयद राहत शाह साहब, मौलाना नसीम अख्तर शाह साहब और सैयद अथर शाह साहब**
- मेरे चचा : **हकीम सैयद मुशर्रफ अली साहब और हकीम सैयद आसिफ अली साहब**
- मेरे खालू : **सैयद मरगूब अहमद साहब**
- मेरे अज़ीज़ बड़े भाई : **डॉ. सैयद यासिर यज़दानी साहब**
- और मेरे **दोस्त, अहबाब** और **रिश्तेदार** जो इस दुनिया से रुखसत हो गए।

अल्लाह रब्ब-उल-इज़ज़त इन तमाम मरहूमीन की कब्रों को नूर से भर दे, उनकी खताओं को दरगुज़र फरमाए, उनकी नेकियों को कुबूल फरमाए और उन्हें अपने जवार-ए-रहमत में आला तरीन मकाम अता फरमाए। **आमीन।**

विषय-सूची (इंडेक्स)

पेज (Page) | अध्याय / विषय (Chapter / Topic)

4 | तशक्कुर (शुक्रिया नामा)

5 | इंतिसाब

6 | दुआ-ए-मगफिरत की खास दरखास्त

8 | वजह-ए-तस्नीफ: यह किताब क्यों लिखी?

9 | बाब 1: मुसलमान और तारीखी पसमंज़र

14 | बाब 2: तक्रसीम और हिंदुस्तानी मुसलमान

22 | बाब 3: आईन-ए-हिंद और अकलियतों के हुक्क

32 | बाब 4: आईनी हुक्क और ज़मीनी हकीकत

42 | बाब 5: आज़ादी के बाद का सियासी सफर

52 | बाब 6: सियासी नुमाइंदगी में गिरावट

61 | बाब 7: तालीमी पसमंदगी और उसकी वजूहात

70 | बाब 8: रोज़गार, कारोबार और सरकारी मुलाज़मत

79 | बाब 9: सच्चर कमेटी और रंगनाथ मिश्रा कमीशन

91 | बाब 10: फसादात, हिफाज़त और सामाजी इंसाफ

101 | बाब 11: सरकारी मंसूबे और आम मुसलमान

111 | बाब 12: सियासी कयादत का बोहरान

121 | बाब 13: खुलासा, तजवीज़ात और आगे का रास्ता

वजह-ए-तस्नीफ : इस किताब को लिखने की ज़रूरत क्यों महसूस हुई?

तारीख का मुताला करते हुए और अपने मुआशरे की मौजूदा खस्ताहाली को देखकर मेरे ज़हन में अक्सर यह सवाल उभरता था कि क्या हमारा यह ज़वाल महज़ एक इत्तेफाक है? जब मैंने सरकारी दस्तावेज़ात, ज़मीनी हकायक और माज़ी के सियासी फैसलों का गहराई से जायज़ा लिया, तो यह कड़वी हकीकत खुलकर सामने आई कि हिंदुस्तानी मुसलमानों की सामाजी, मआशी और तालीमी पसमंदगी कोई इत्तेफाक नहीं, बल्कि एक '**खामोश साज़िश**' और मुनज़ज़म इस्तेहसाल का नतीजा है। मुल्क की सियासी जमातों ने हमें हकीकी मसाइल से दूर रखकर महज़ जज़्बाती नारों और फसादात के खौफ में उलझा दिया, ताकि हम सिर्फ एक खामोश वोट बैंक बने रहें। दूसरी जानिब, सरकारी इदारों के तास्सुब और माली मुहासरे ने हमारे दस्तकारों और हुनरमंदों को मआशी तौर पर तबाह कर दिया। इस तबाही में हमारी अपनी कयादत भी शामिल रही जिसने वक्फ इमलाक की बर्बादी पर खामोशी इख्तियार की और हमें जज़्बाती एहतेजाज के सिवा कुछ नहीं दिया।

रियासत की जानिब से इल्म के दरवाज़े बंद करने की खामोश कोशिशों ने मुझे यह शिद्दत से महसूस करवाया कि जब तक हम दस्तूर-ए-हिंद को अपनी ढाल नहीं बनाएंगे, कोई हमदर्दी हमारी तकदीर नहीं बदल सकती। मैंने यह किताब माज़ी की तबाही का मातम करने के लिए हरगिज़ नहीं लिखी, बल्कि मेरा असल मक़सद अपनी कौम को एक '**अज़ीम बेदारी**' का पैगाम देना है। मैं चाहता हूँ कि हमारी आने वाली नस्लें खौफ की ज़हनीयत से बाहर आएँ और खैरात मांगने के बजाय इल्म व दस्तूर की ताक़त से अपना हक़ छीनना सीखें।

— डॉ. सैयद नासिर शाह
लेखक / विचारक

पहला बाब : मुकद्दमा - हिंदुस्तानी मुसलमान और तारीखी पसमंज़र

हिंदुस्तान में मुसलमानों की आमद और इब्तिदाई तारीख

हिंदुस्तानी मुसलमानों की तारीख का मुताला अक्सर गलतफहमियों का शिकार रहा है। एक आम तसव्वुर यह बना दिया गया है कि मुसलमान इस खित्ते में सिर्फ हमलावरों के रूप में आए। लेकिन तारीख के हकायक इससे बिल्कुल मुख्तलिफ और गहरे हैं।

अरब ताजिरी की आमद

मुसलमानों का हिंदुस्तान से पहला तआरुफ़ जंगों या फतह से नहीं, बल्कि तिजारत से शुरू हुआ। इस्लाम के आगाज़ के कुछ ही अरसे बाद, सातवीं सदी में अरब ताज़िर जुनूबी हिंद के साहिलों पर आने लगे थे। उनकी ईमानदारी और अखलाक़ से मुतास्सिर होकर मुकामी लोगों ने उनका खुले दिल से इस्तकबाल किया। हिंदुस्तान की पहली मस्जिद भी उन्हीं मुकामी राजाओं की इजाज़त और इज़ज़त के साथ तामीर हुई थी।

सूफी संतों का पैग़ाम

हिंदुस्तान में इस्लाम के फरोज़ का सबसे बड़ा सेहरा सूफी बुजुर्गाने-दीन के सर जाता है। हज़रत ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती, हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया, और बख्तियार काकी जैसे अज़ीम सूफी संतों ने अवाम के दरमियान रहकर मोहब्बत, भाईचारे और इंसानी बराबरी का पैग़ाम दिया। ज़ात-पात में बंटे हुए समाज में, सूफी संतों की बराबरी की तालीम ने एक आम हिंदुस्तानी के दिल में घर कर लिया और उनकी खानकाहें सभी मज़ाहिब के लोगों के मिलन का मरकज़ बन गईं।

मिट्टी से जुड़ाव

हिंदुस्तानी मुसलमान बाहर से आई हुई कोई अजनबी क़ौम नहीं है। इस आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा इसी मिट्टी की पैदावार है। उनके अजदाद इसी मिट्टी में पैदा हुए, यहीं पले-बढ़े और उन्होंने इस नए अक़ीदे को अपनाया। इसलिए, हिंदुस्तानी मुसलमान का खून, उसकी तहज़ीब, और उसकी मिट्टी से मोहब्बत किसी भी दूसरे हिंदुस्तानी से अलग नहीं है। ये इस वतन के उतने ही हिस्सेदार हैं जितना कोई और।

गंगा-जमुनी तहज़ीब और मुश्तरका सक़ाफ़त

मिली-जुली तहज़ीब का आगाज़

हिंदुस्तान की तारीख इस बात की गवाह है कि हिंदू और मुसलमान सदियों तक एक साथ रहे हैं। उनके दरमियान सिर्फ हुक्मरान और अवाम का रिश्ता नहीं था, बल्कि वे एक ही मुआशरे का हिस्सा बन गए थे। खुशी और ग़म में एक दूसरे का साथ देना, मेलों और त्योहारों में शिरकत करना इस खित्ते की पहचान बन गया। इसी मेल-जोल से एक नई और खूबसूरत तहज़ीब ने जन्म लिया, जिसे आज हम गंगा-जमुनी तहज़ीब के नाम से जानते हैं। यह तहज़ीब इस बात का सुबूत है कि मुख्तलिफ अक़ीदों के लोग एक साथ मिलकर एक बेहतर और पुरअमन समाज की तामीर कर सकते हैं।

ज़बान और अदब

इस मुश्तरका तहज़ीब की सबसे बड़ी और खूबसूरत मिसाल हमारी ज़बान है। उर्दू ज़बान किसी एक मज़हब या फिरके की जागीर नहीं है, बल्कि यह दो क्रौमों और कई तहज़ीबों के मिलने का नतीजा है। फ़ारसी, अरबी, तुर्की और मुकामी खड़ी बोली के अल्फ़ाज़ ने मिलकर एक ऐसा हसीन अवामी लहज़ा तैयार किया जिसने पूरे हिंदुस्तान को एक धागे में पिरो दिया। मीर तक़ी मीर और मिर्ज़ा ग़ालिब से लेकर मुंशी प्रेमचंद तक, सबने इसी ज़बान में अपने खयालात का इज़हार किया और इसे अवाम की ज़बान बना दिया।

फ़न-ए-तामीर और रिवायतें

मुश्तरका सक़ाफ़त की झलक सिर्फ ज़बान तक महदूद नहीं रही, बल्कि हमारे रहन-सहन, लिबास, खान-पान और तामीरात में भी नुमायाँ नज़र आईं। मुग़ल दौर की इमारतें हों या दिल्ली का लाल किला और ताज़ महल, ये सिर्फ इस्लामी फ़न-ए-तामीर का नमूना नहीं हैं, बल्कि इनमें हिंदुस्तानी कारीगरी और मुकामी रिवायतों का गहरा असर शामिल है। इसी तरह हमारे लिबास और दस्तरख़्वान के ज़ायके भी एक दूसरे से इतने घुल-मिल गए कि आज उन्हें एक दूसरे से अलग करके देखना नामुमकिन है।

जंग-ए-आज़ादी में मुसलमानों का किरदार

इब्तिदाई जद्दोजहद और 1857 की बगावत

हिंदुस्तान की आज़ादी की तारीख मुसलमानों की कुर्बानियों के ज़िक्र के बिना अधूरी है। अंग्रेज़ों के खिलाफ बगावत का परचम सबसे पहले नवाब सिराज-उद-दौला और टीपू सुल्तान जैसे हुक्मरानों ने बुलंद किया था। जब 1857 की पहली जंग-ए-आज़ादी का बिगुल बजा, तो अवाम ने बहादुर शाह ज़फ़र को अपना रहनुमा चुना और हिंदू-मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर लड़े। इस जंग में बेगम हज़रत महल की बहादुरी और उलेमा-ए-कराम के फतवों ने लोगों में आज़ादी की ऐसी आग भड़काई जिसने अंग्रेज़ी हुक्मत की जड़ें हिला दीं। अंग्रेज़ों ने इस बगावत का सबसे ज़्यादा इल्ज़ाम मुसलमानों पर डाला और उन्हें इसका भारी नुकसान भी उठाना पड़ा।

रेशमी रुमाल तहरीक और उलेमा की कोशिशें

आज़ादी की इस लड़ाई में उलेमा और मज़हबी रहनुमाओं ने अपनी जान और माल की कोई परवाह नहीं की। मौलाना महमूद हसन, मौलाना उबैदुल्लाह सिंधी और मौलाना हुसैन अहमद मदनी की 'रेशमी रुमाल तहरीक' इसका एक बहुत बड़ा सुबूत है। उन्होंने मुल्क के बाहर जाकर अंग्रेज़ों के खिलाफ एक मुनज़ज़म मंसूबा बनाया। इसके अलावा जमीयत उलेमा-ए-हिंद जैसी तंज़ीमों ने भी आम मुसलमानों को आज़ादी की तहरीक से जोड़ने और मुल्क की खातिर सब कुछ कुर्बान कर देने का पैग़ाम दिया।

अहम रहनुमा और इंक़लाब की आवाज़

बीसवीं सदी की तहरीकों में मुसलमानों ने हर कदम पर अपना खून बहाया। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की दानिशमंदी, अशफ़ाक़उल्ला खान की शहादत, और खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार खान की पुरअमन जद्दोजहद को तारीख कभी फरामोश नहीं कर सकती। यह बात भी काबिले गौर है कि 'इंक़लाब ज़िंदाबाद' का वह नारा, जिसने पूरी क़ौम के जज़्बात को जगाया और आज़ादी का तराना बन गया, मौलाना हसरत मोहानी का ही दिया हुआ था। खिलाफत तहरीक ने भी मुल्क में हिंदू-मुस्लिम इत्तेहाद की एक ऐसी मिसाल कायम की जिसने आज़ादी के सफर को और तेज़ कर दिया।

खिलाफत तहरीक और जमीयत उलेमा-ए-हिंद का किरदार

बीसवीं सदी की शुरुआत में खिलाफत तहरीक ने मुल्क की सियासत का रुख बदल दिया। मौलाना मोहम्मद अली जौहर और मौलाना शौकत अली (अली बिरादरान) की कयादत में इस तहरीक ने सिर्फ मुसलमानों को ही नहीं, बल्कि महात्मा गांधी के साथ मिलकर पूरे मुल्क को एक धागे में पिरो दिया। इसी दौर में 'जमीयत उलेमा-ए-हिंद' का वजूद सामने आया, जिसने मज़हबी रहनुमाई के साथ-साथ मुल्की आज़ादी को अपना अहम मक़सद बनाया। जमीयत के उलेमा ने गाँव-गाँव जाकर आम मुसलमानों को यह समझाया कि आज़ादी की लड़ाई कोई सियासी खेल नहीं, बल्कि उनका मुल्की और मज़हबी फ़र्ज़ है। इन तहरीकों का सबसे बड़ा कारनामा यह था कि इन्होंने मुसलमान अवाम को मुनज़ज़म करके आज़ादी की जद्दोज़हद की अगली सफ़्रों (लाइनों) में खड़ा कर दिया।

अंग्रेज़ों की फूट डालो और राज करो की हिकमत-ए-अमली

ज़ुल्म ओ सितम और 1857 के बाद के हालात

1857 की जंग-ए-आज़ादी के बाद अंग्रेज़ी हुकूमत का सबसे बड़ा निशाना मुसलमान ही बने। मुग़ल सल्तनत के खात्मे के बाद मुसलमानों की जागीरें ज़ब्त कर ली गईं और उन्हें सरकारी ओहदों से बेदखल कर दिया गया। तालीमी और मआशी (आर्थिक) तौर पर उन्हें पस्ती की तरफ धकेल दिया गया ताकि वह दोबारा कभी सिर न उठा सकें।

अलीगढ़ तहरीक और नई बेदारी

इस मुश्किल दौर में सर सैयद अहमद ख़ान ने 'अलीगढ़ तहरीक' की बुनियाद रखी। उन्होंने महसूस किया कि मुआशरे में इज़्ज़त और मक़ाम वापस पाने के लिए जदीद (आधुनिक) तालीम बेहद ज़रूरी है। उन्होंने मुसलमानों को अंग्रेज़ी और जदीद उलूम सीखने की तरफ राग़िब किया, ताकि वह बदलते हुए वक्त के साथ कदम मिला सकें।

सियासी दूरियाँ और अंग्रेज़ों की साज़िश

दूसरी तरफ, अंग्रेज़ों ने बहुत चालाकी से 'फूट डालो और राज करो' की पॉलिसी अपनाई। उन्होंने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि हिंदू-मुस्लिम इत्तेहाद (एकता) उनकी हुकूमत के लिए सबसे बड़ा खतरा है। इसलिए उन्होंने सोची-समझी साज़िश के तहत दोनों क़ौमों के दरमियान शक और नफरत के बीज बोने शुरू किए। तारीख को तोड़-मरोड़ कर पेश किया गया और सियासी फायदों के लिए दोनों अवाम को एक दूसरे के खिलाफ खड़ा करने की कोशिशें तेज़ कर दी गईं।

खुलासा – नये दौर की आहट

मुख्तसर तौर पर कहा जाए तो हिंदुस्तान में मुसलमानों की तारीख एक शानदार मुश्तरका तहज़ीब और आज़ादी के लिए दी गई अज़ीम कुर्बानियों की दास्तान है। सदियों तक साथ रहकर हिंदू और मुसलमानों ने इस मुल्क को संवारा और जब वक़्त आया तो मुल्क की खातिर अपना खून भी बहाया। लेकिन बीसवीं सदी के आते-आते, अंग्रेज़ों की साज़िशों और बदलती हुई सियासी आबोहवा ने हालात का रुख मोड़ना शुरू कर दिया था। नफरत और शक की जो दीवारें अंग्रेज़ों ने खड़ी की थीं, वह अब सियासी शक्ल अख्तियार करने लगी थीं। इन्हीं बदलते हालात और सियासी उथल-पुथल ने आगे चलकर उस दर्दनाक तक्रसीम (बंटवारे) की बुनियाद रखी, जिसने हिंदुस्तानी मुसलमानों का मुस्तक़बिल हमेशा के लिए बदल दिया।

दूसरा बाब: आज़ादी के वक़्त का मंज़र-नामा (तक़सीम और हिंदुस्तानी मुसलमान)

तक़सीम का फैसला और आम मुसलमान की बेबसी

बंटवारे का फैसला रातों-रात नहीं हुआ था, लेकिन आम अवाम के लिए यह किसी अचानक गिरने वाली बिजली से कम न था। दिल्ली और लंदन के बंद कमरों में बैठे बड़े सियासी रहनुमा जब नक्शों पर लकीरें खींच रहे थे, तब मुल्क का आम मुसलमान इस बात से बिल्कुल बेखबर था कि उसके पैरों तले से ज़मीन खिसकने वाली है। सियासत के इस बड़े खेल में उन गरीब किसानों, बुनकरों, मज़दूरों और छोटे दुकानदारों की कोई आवाज़ नहीं थी जो अपनी रोज़ी-रोटी की जह्दोजहद में मसरूफ़ थे। उनके लिए आज़ादी का मतलब सिर्फ़ अंग्रेज़ों की गुलामी से निजात था, मुल्क के टुकड़े होना नहीं।

यह एक बहुत बड़ी हकीकत है जिसे तारीख के पन्नों में अक्सर नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है कि हर मुसलमान पाकिस्तान की मांग का हामी नहीं था। मुस्लिम लीग की कयादत और उसकी सियासत पर ज़्यादातर नवाबों, बड़े ज़मींदारों और आला तालीम याफ़ता तबके का कब्ज़ा था। उनके सियासी मकासिद और आम हिंदुस्तानी मुसलमान की रोज़मर्रा की ज़रूरतों में ज़मीन-आसमान का फर्क था। एक आम मुसलमान, जो अपनी मुक़ामी तहज़ीब और मिट्टी से पूरी तरह जुड़ा हुआ था, उसके लिए यह तसव्वुर करना भी मुहाल था कि उसे अपना घर-बार छोड़कर किसी नई और अंजान जगह जाना पड़ेगा।

जब तक़सीम का आखिरी फैसला सुनाया गया, तो एक आम मुसलमान ने खुद को बहुत खौफनाक दौराहे पर खड़ा पाया। उसे समझ नहीं आ रहा था कि जिस मिट्टी में उसके बुजुर्ग दफ़न हैं, जिस ज़मीन पर उसने और उसके आबा-ओ-अजदाद ने अपनी पूरी ज़िंदगी गुज़ारी है, वह अचानक रातों-रात पराई कैसे हो सकती है। सरहदें कागज़ पर खिंच चुकी थीं, लेकिन दिलों, जुबानों और सदियों पुराने रिश्तों को इस तरह बेदर्दी से बांटना इतना आसान नहीं था।

जो मुसलमान सदियों से अपने हिंदू और सिख पड़ोसियों के साथ दुख-सुख बांटते आए थे, उन्हें अचानक एक अनजान खौफ ने घेर लिया। खौफ और बेबसी का यह आलम था कि सरहदों के करीब बसने वाले लाखों लोगों को यह तक मालूम नहीं था कि उनका गांव या शहर अब हिंदुस्तान का हिस्सा रहेगा या रातों-रात पाकिस्तान में चला जाएगा। आम अवाम के लिए यह सिर्फ मुल्क की ज़मीन का बंटवारा नहीं था, बल्कि यह उनकी पहचान, उनकी तारीख, उनकी मुश्तरका तहज़ीब और उनके वजूद को चीर देने वाला वक्त था। बड़े सियासी फैसले हो चुके थे, हुक्मरानों ने अपनी-अपनी मंज़िलें तय कर ली थीं, लेकिन आम और गरीब मुसलमान को हालात के बेरहम थपेड़ों और मुस्तकबिल के अंधेरों के रहमो-करम पर छोड़ दिया गया था।

हिजरत का दर्द और बिछड़ते हुए रिश्ते

अगस्त उन्नीस सौ सैंतालीस का महीना एक तरफ आज़ादी की सुबह लेकर आया था, तो दूसरी तरफ तारीख का सबसे बड़ा और खौफनाक खून-खराबा भी। मुल्क का बंटवारा सिर्फ ज़मीन का नहीं था, बल्कि यह इंसानी जिस्म और रूह को चीर देने वाला वाकया था। फसादात की ऐसी आग भड़की जिसने इंसानियत को हमेशा के लिए शर्मसार कर दिया। जो लोग कल तक एक ही दस्तरख्वान पर खाना खाते थे, एक दूसरे की ईद और दीवाली में खुशी-खुशी शरीक होते थे, वो अचानक सियासत के बोए हुए नफरत के बीजों की वजह से एक दूसरे के खून के प्यासे हो गए। बस्तियों की बस्तियाँ वीरान हो गईं और जिन मोहल्लों में कभी रौनकें और कहकहे गूँजा करते थे, वहां अब सिर्फ खौफ और मौत का सन्नाटा पसरा हुआ था। हिजरत यानी अपना वतन और अपना घर छोड़कर जाने का दर्द कोई लफ्ज़ों में बयान नहीं कर सकता। वह मंज़र दिल दहला देने वाला था जब लोगों को अपने ही उन घरों से बेदखल होना पड़ा, जिनकी तामीर में उनके बुजुर्गों का पसीना, खून और उनकी अनगिनत यादें शामिल थीं। रेलगाड़ियाँ इंसानों के हुजूम से इस कदर भरी होती थीं कि पैर रखने की भी जगह नहीं होती थी, लेकिन उन रेलगाड़ियों में मुसाफिरों से ज़्यादा खौफ, सिसकियाँ और एक न खत्म होने वाला दर्द सफर कर रहा था। लोग अपने घरों के दरवाज़ों पर ताले लगाते वक्त बिलख-बिलख कर रो रहे थे, इस झूठी उम्मीद के साथ कि शायद हालात ठीक होने पर वह एक दिन अपने घरों को वापस लौट आएंगे। कई लोगों ने तो अपने घरों की चाबियां अपने उन पड़ोसी दोस्तों को सौंप दीं जिनके साथ उनका पूरा बचपन गुज़रा था, और भारी कदमों से एक अनजान सफर पर निकल पड़े।

इस हिजरत का सबसे बड़ा अलमिया यह था कि इसने सदियों पुराने रिश्तों और खानदानों को बेदरदी से दो हिस्सों में चीर कर रख दिया। किसी का जवान बेटा सरहद के उस पार चला गया, तो बूढ़े वालदैन अपनी ज़मीन और कब्रों को छोड़ने के खयाल से यहीं रह गए। सगे भाई एक दूसरे से ऐसे बिछड़े कि फिर पूरी ज़िंदगी उनकी कभी मुलाकात न हो सकी। एक ही आंगन में खेलने वाले बच्चों की तकदीरें रातों-रात दो अलग-अलग मुल्कों की सरहदों में बंट गई। सरहद के दोनों तरफ आंसू बिल्कुल एक जैसे थे और सीनों में धड़कने वाला दर्द भी एक ही था। दिल्ली, लखनऊ, मेरठ या हैदराबाद में बैठा हुआ मुसलमान अपने उन अज़ीज़ों के लिए दिन-रात तड़पता रहता जो हालात के मारे लाहौर या कराची चले गए थे। खतों का इंतज़ार महीनों चलता और जब कभी कोई खत सरहद पार से आता तो उसे पढ़कर पूरा का पूरा खानदान आंसू बहाता था। यह सिर्फ़ मकानों या जायदाद का छूटना नहीं था, बल्कि यह एक पूरी की पूरी तहज़ीब का उजड़ जाना था। अपने मोहल्ले, अपने शहर की मस्जिदें, खानकाहें, और बुजुर्गों के मज़ार छोड़कर जाना ऐसा था जैसे किसी हरे-भरे पेड़ को उसकी जड़ों से उखाड़ दिया गया हो। औरतों, माओं और बहनों ने इस हिजरत के दौरान जो जुल्म सहे, वह तारीख का सबसे स्याह और शर्मनाक बाब है। यह वह वक्त था जब इंसान अपनी इंसानियत पूरी तरह भूल चुका था।

जो लोग अपना सब कुछ छोड़कर हिजरत कर गए, वह भी कभी मुकम्मल सुकून से नहीं रह पाए क्योंकि उनकी रूहें इसी मिट्टी में छूट गई थीं। और जो लोग मुल्क में रुक गए, उनके दिलों में बिछड़ने वालों का दर्द हमेशा के लिए एक नासूर बनकर रह गया। हिजरत ने एक ऐसा गहरा ज़ख्म दिया था जिसकी टीस हिंदुस्तानी मुसलमानों की कई नस्लों तक महसूस की जाती रही। इस पूरे मंज़र में हिंदुस्तानी मुसलमान का दिल दो हिस्सों में बंट चुका था—एक हिस्सा मुल्क की आज़ादी पर फख्र कर रहा था, तो दूसरा हिस्सा अपनों के बिछड़ने के ग़म में खून के आंसू रो रहा था।

मौलाना आज़ाद की आवाज़ और जामा मस्जिद का खुत्बा

मुल्क की राजधानी दिल्ली, जो कभी मुग़ल सल्तनत की शान और मुसलमानों की अज़ीम तहज़ीब का मरकज़ हुआ करती थी, तक्रसीम के वक्रत एक उजड़े हुए शहर में तब्दील हो चुकी थी। हर तरफ फसादात की आग सुलग रही थी। खौफ और दहशत का यह आलम था कि दिल्ली और उसके आस-पास के लाखों मुसलमान अपने पुश्तैनी घरों को छोड़कर पुराना किला और हुमायूँ के मकबरे के पनाहगुज़ीन कैपों में पनाह लेने पर मजबूर हो गए थे। इन कैपों में ज़िंदगी मौत से भी बदतर नज़र आ रही थी। जिन लोगों के आबा-ओ-अजदाद ने इस मुल्क की तामीर में अपना खून-पसीना एक किया था, आज वो अपने ही वतन में मोहताज और अजनबी बन गए थे। उनके चेहरों पर मायूसी छाई हुई थी और उन्हें अपना मुस्तकबिल चारों तरफ से गहरे अंधेरे में डूबा हुआ महसूस हो रहा था।

हर कोई बस किसी भी तरह अपनी जान बचाकर सरहद पार कर लेना चाहता था। मुल्क का मुसलमान अपनी तारीख, अपनी पहचान और अपने वजूद के सबसे बड़े बोहरान से गुज़र रहा था। ऐसे खौफनाक और तारीक दौर में, जब रहनुमाई करने वाले ज़्यादातर लीडर खामोश थे या खुद सरहद पार कर चुके थे, एक आवाज़ उठी जो किसी फरिश्ते की पुकार से कम न थी। यह आवाज़ थी मुहिब्ब-ए-वतन, अज़ीम मुफ़क्किर और इमाम-उल-हिंद मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की। मौलाना आज़ाद ने जब अपनी क्रौम को इस तरह दर-ब-दर और खौफज़दा देखा, तो उनका दिल खून के आंसू रो पड़ा। उन्होंने महसूस किया कि अगर इस वक्रत इस बेबस क्रौम को सहारा नहीं दिया गया, तो हिंदुस्तानी मुसलमान हमेशा के लिए अपनी हिम्मत और अपना मकाम खो बैठेगा।

तेईस अक्टूबर उन्नीस सौ सैंतालीस (23/10/1947) का वह तारीखी दिन था। दिल्ली की अज़ीम जामा मस्जिद के दालान और सीढ़ियां खचाखच भरी हुई थीं। चारों तरफ सिर्फ मायूस, खौफज़दा और मुरझाए हुए चेहरों का हुजूम था। मौलाना आज़ाद भारी कदमों से मेंबर की तरफ बढ़े। उनकी आंखों में अपनी क्रौम के लिए दर्द था और आवाज़ में एक ऐसा जलाल जो सीधे दिलों में उतरने वाला था। जब उन्होंने खुत्बा शुरू किया, तो मस्जिद के सन्नाटे में उनकी आवाज़ एक बिजली की तरह गूंजी।

मौलाना ने अपने लोगों को मुखातिब करते हुए कहा कि तुमने मेरी आवाज़ को अनसुना कर दिया। जब मैं तक्रसीम के खिलाफ चीख रहा था, तो तुमने मेरी बातों को नज़रअंदाज़ किया और आज उसी का नतीजा तुम्हारे सामने है। उन्होंने मुसलमानों को झकझोरते हुए निहायत सख़्त लहज़े में पूछा कि तुम आज इस तरह खौफ़ज़दा होकर क्यों भाग रहे हो? क्या तुम भूल गए कि इस मुल्क की मिट्टी में तुम्हारी तारीख दफ़न है? मौलाना के अल्फ़ाज़ तीर की तरह दिलों में पैवस्त हो रहे थे। उन्होंने जामा मस्जिद के मीनारों से दिल्ली के मंज़र की तरफ इशारा करते हुए कहा कि ज़रा देखो इस जामा मस्जिद के मीनार तुमसे सवाल कर रहे हैं कि तुमने अपनी तारीख के सफ़हात कहां गुम कर दिए। ज़रा मुड़कर देखो, जमुना का पानी तुमसे पूछ रहा है कि तुम्हारे बुजुर्गों ने इन किनारों पर वजू किया था, आज तुम इन किनारों को छोड़कर कहां जा रहे हो?

उन्होंने कहा कि यह वतन तुम्हारा है, यह ज़मीन तुम्हारी है। तुम बाहर से आए हुए कोई मुसाफिर नहीं हो। उन्होंने निहायत जज़्बाती अंदाज़ में कहा कि भागने की यह बुज़दिली छोड़ दो। अगर तुम इस ज़मीन को अपना मानते हो, तो दुनिया की कोई ताकत तुम्हें यहां से नहीं निकाल सकती। उठो और अहद करो कि हम इसी मुल्क में रहेंगे, इसी मिट्टी में जिएंगे और इसी मिट्टी में दफ़न होंगे। उन्होंने याद दिलाया कि इस्लाम कभी बुज़दिली और मायूसी का दरस नहीं देता।

मौलाना आज़ाद के इस तारीखी खुत्बे का असर किसी मोज़ज़े से कम न था। जो लोग मायूसी के दलदल में डूब चुके थे, उनकी आंखों से आंसुओं का सैलाब बह निकला। वहां मौजूद हज़ारों लोगों की हिचकियां बंध गईं। इस तकरीर ने उनके सोए हुए ज़मीर और उनकी हिम्मत को दोबारा बेदार कर दिया। लोगों ने उसी वक़्त अपने इरादे बदल दिए। जिन लोगों ने पाकिस्तान जाने के लिए अपने सामान बांध लिए थे, उन्होंने अपने बिस्तर खोल दिए। जिन्होंने रेलगाड़ियों के टिकट खरीद लिए थे, उन्होंने वहीं जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर अपने टिकट फाड़ कर फेंक दिए और कसम खाई कि वह अपने वतन को छोड़कर कहीं नहीं जाएंगे। यह खुत्बा सिर्फ एक तकरीर नहीं था, बल्कि यह हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए ज़िंदगी का एक नया पैग़ाम था।

इसने मुल्क में रुक जाने वाले मुसलमानों को एक नया हौसला दिया, उन्हें उनकी जड़ों से दोबारा जोड़ा और उन्हें यह एहसास दिलाया कि इस मुल्क की तामीर और तरक्की में उनका हिस्सा किसी भी दूसरे शहरी से कम नहीं है। इसी आवाज़ ने आज़ाद हिंदुस्तान में मुसलमानों के एक नए और मज़बूत सफर की बुनियाद रखी, जिस पर चलकर उन्होंने मुल्क की अज़ीम जम्हूरियत में अपना किरदार अदा किया।

रुकने वालों का अज़म और वतन से मोहब्बत

जब मुल्क का नक्शा दो हिस्सों में बांटा जा रहा था और सरहदों पर खून की नदियां बह रही थीं, उस खौफनाक दौर में हिंदुस्तानी मुसलमानों के एक बहुत बड़े तबके ने एक ऐसा तारीखी फैसला किया जो उनकी वतन परस्ती की सबसे बड़ी और अज़ीम मिसाल है। यह फैसला था अपने आबा-ओ-अजदाद की ज़मीन पर टिके रहने का। यह कोई आसान फैसला नहीं था। जब हर तरफ नफरत की आंधियां चल रही हों, जब हिफाज़त की कोई ज़मानत न हो और जब मुस्तकबिल पूरी तरह अंधेरे में डूबा हुआ नज़र आ रहा हो, उस वक़्त अपने घरों में डटे रहना एक बहुत बड़ा अज़म और बेमिसाल हौसला मांगता था। जिन मुसलमानों ने पाकिस्तान जाने की पेशकश को ठुकराया, उन्होंने यह फैसला किसी मजबूरी के तहत नहीं किया था, बल्कि यह फैसला उनकी उस गहरी मोहब्बत का नतीजा था जो उन्हें इस मुल्क की मिट्टी, इसकी हवाओं, इसके मौसमों और इसकी तहज़ीब से थी। उन्होंने उस दो क़ौमी नज़रिया (टू-नेशन थ्योरी) को पूरी तरह मुस्तर्द (खारिज) कर दिया जिसने मज़हब के नाम पर मुल्क को बांटने की बुनियाद रखी थी। इन मुसलमानों का साफ मानना था कि मज़हब किसी भी इंसान का निजी अक़ीदा हो सकता है, लेकिन मुल्कियत और वतन से मोहब्बत इंसान के वजूद का सबसे अहम हिस्सा है। इस्लाम ने भी वतन से मोहब्बत को ईमान का हिस्सा करार दिया है, और हिंदुस्तानी मुसलमानों ने अपने इसी ईमान की खातिर हिज़रत करने के बजाय अपनी ज़मीन पर जीना और मरना कुबूल किया। रुकने वाले जानते थे कि अजमेर में ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह, दिल्ली में हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया का मज़ार, कलियर शरीफ और देवा शरीफ जैसी खानकाहें उनकी रूहानियत का मरकज़ हैं। यह वह ज़मीन थी जहां उनके बुजुर्गों ने सदियों तक खून-पसीना बहाकर एक अज़ीम और मुश्तरका तहज़ीब की तामीर की थी।

ताज महल की खूबसूरती हो, लाल किले की अज़मत हो या उर्दू ज़बान की मिठास, यह सब इसी मिट्टी की पैदावार थे। एक सच्चा हिंदुस्तानी मुसलमान यह तसव्वुर भी नहीं कर सकता था कि वह अपनी तारीख की इन अज़ीम निशानियों को छोड़कर किसी अंजान ज़मीन पर जाकर पनाह ले। इसके अलावा, रुकने वालों को मुल्क के उन अज़ीम रहनुमाओं पर पूरा भरोसा था जिन्होंने एक ऐसे नए मुल्क का ख्वाब देखा था जहां हर इंसान को बराबरी का हक़ मिलेगा। महात्मा गांधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की बातों पर ऐतबार करते हुए, आम मुसलमान ने यह तय किया कि वह इस मुल्क की नई जम्हूरियत (लोकतंत्र) में अपना मुकम्मल किरदार अदा करेगा। बनारस का बुनकर, मुरादाबाद का पीतल का कारीगर, अलीगढ़ का ताला बनाने वाला मज़दूर, और बिहार व यूपी के खेतों में हल चलाने वाला गरीब किसान—इन सबने सियासत के शोर-शराबे से दूर अपनी मिट्टी से वफ़ादारी निभाने का फैसला किया। उन्होंने नफरतों को नज़रअंदाज़ किया और अपनी बिखरी हुई ज़िंदगी को इसी ज़मीन पर दोबारा समेटने का अहद किया। उनका यह अज़म आज भी इस बात का ज़िंदा सुबूत है कि हिंदुस्तानी मुसलमान का दिल और उसकी रूह पूरी तरह इसी मुल्क के साथ धड़कते हैं।

आज़ादी के फौरन बाद के चैलेंजेज़ और कयादत का बोहरान

आज़ादी का सूरज जब पूरी तरह तुलू हुआ, तो जहां पूरे मुल्क में जश्ने आज़ादी मनाया जा रहा था, वहीं हिंदुस्तानी मुसलमान एक बहुत ही अजीब और तकलीफदेह कशमकश से गुज़र रहा था। रुकने का फैसला तो कर लिया गया था, लेकिन इसके बाद जो हालात पैदा हुए, उन्होंने मुसलमानों की कमर तोड़ कर रख दी। आज़ादी के फौरन बाद हिंदुस्तानी मुसलमानों को जिन संगीन मसाइल और चैलेंजेज़ का सामना करना पड़ा, उसकी मिसाल तारीख में बहुत कम मिलती है। सबसे बड़ा और सबसे खतरनाक मसला था कयादत यानी लीडरशिप का बोहरान। तक्रसीम की वजह से मुसलमानों का वह तबका, जो पढ़ा-लिखा था, जो सियासत को समझता था, जो मालदार था, और जो सरकारी ओहदों पर काबिज़ था, उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा पाकिस्तान चला गया।

डॉक्टर, इंजीनियर, बड़े ज़मींदार, तालीम याफ़्ता लोग और आला सरकारी अफ़सरान के चले जाने से हिंदुस्तानी मुसलमानों के मुआशरे में एक ऐसा खालीपन पैदा हो गया जिसे भरना ना-मुमकिन सा हो गया। यहां जो मुसलमान रह गए, उनमें से ज़्यादातर तादाद गरीब मज़दूरों, किसानों, छोटे दुकानदारों और कारीगरों की थी। अब कोई ऐसा बड़ा रहनुमा या तंज़ीम बाकी नहीं थी जो अवाम की आवाज़ को हुकूमत के ऐवानों (संसद) तक पहुंचा सके। कयादत के इस अचानक पैदा हुए बोहरान ने आम मुसलमान को सियासी तौर पर यतीम कर दिया था। दूसरा सबसे बड़ा चैलेंज नफ़्सियाती (मनोवैज्ञानिक) और मआशी (आर्थिक) था। तक्रसीम का इल्ज़ाम सीधे तौर पर हिंदुस्तानी मुसलमानों के सर मढ़ दिया गया। बावजूद इसके कि उन्होंने मुल्क के लिए अपनी जान की बाज़ी लगाई थी और पाकिस्तान के नज़रिया को ठुकरा कर हिंदुस्तान को अपना मुल्क चुना था, उन्हें हर कदम पर शक की निगाह से देखा जाने लगा। उन्हें अपनी वफ़ादारी का सुबूत देने के लिए मजबूर किया गया। यह एक ऐसा नफ़्सियाती जुल्म था जिसने आम मुसलमान के एतमाद (आत्मविश्वास) को बुरी तरह कुचल दिया। वह अपने ही मुल्क में, अपनी ही ज़मीन पर, एक डरा और सहमा हुआ शहरी बनकर रह गया, जिसे हर वक़्त यह साबित करना पड़ता था कि वह इस मुल्क से कितनी मोहब्बत करता है। मआशी तौर पर भी हालात बहुत ख़ौफनाक थे। फ़सादात के दौरान मुसलमानों के घर, दुकानें और कारख़ाने या तो जला दिए गए थे या उन पर कब्ज़ा कर लिया गया था। जो लोग अपनी जान बचाकर पनाहगुज़ीन कैम्पों में गए थे, जब वह वापस लौटे तो उनकी जायदादें दूसरों के कब्ज़े में थीं। हुकूमत के कस्टोडियन महकमे ने बहुत सी जायदादों को यह कहकर ज़ब्त कर लिया कि इनके मालिक पाकिस्तान चले गए हैं, जबकि हकीकत में उनके मालिक यहीं मौजूद थे और दर-ब-दर की ठोकरें खा रहे थे। रोज़गार के दरवाज़े बंद हो चुके थे, तालीम का निज़ाम टूट चुका था, और छोटे-मोटे कारोबार पूरी तरह तबाह हो गए थे। इन तमाम मुश्किलों के बीच, हिंदुस्तानी मुसलमान एक ऐसे दोराहे पर खड़ा था जहां उसे अपनी बची-खुची हिम्मत को समेट कर एक नई शुरुआत करनी थी। कयादत के बिना, मआशी तबाही के साये में और शक की निगाहों के बीच, यह सफ़र किसी पहाड़ पर चढ़ने से कम नहीं था। लेकिन इन्हीं मुश्किल हालात में मुल्क के नए आईन (संविधान) की तैयारी शुरू हो चुकी थी, जिसमें अकलियतों (अल्पसंख्यकों) को कुछ बुनियादी हुकूक दिए जाने थे, जिसने मुसलमानों के दिलों में एक नई उम्मीद की किरण जगाई।

तीसरा बाब: आईन-ए-हिंद और अकलियतों के हुक्क

आईन साज़ी का सफर और मुसलमानों की नुमाइंदगी

मुल्क की आज़ादी और तक्रसीम के खौफनाक खून-खराबे के बीच हिंदुस्तान के मुस्तकबिल की एक नई तारीख लिखी जा रही थी। दिल्ली के तारीखी हॉल में मुल्क के सबसे दानिशवर और अज़ीम रहनुमा एक ऐसा कानून और आईन तैयार करने के लिए जमा हुए थे, जिसे आने वाली सदियों तक इस मुल्क की रहनुमाई करनी थी। इस आईन साज़ मजलिस का मक़सद सिर्फ़ कायदे और कानून बनाना नहीं था, बल्कि एक ऐसे नए मुल्क की तामीर करना था जहां हर शहरी को बराबरी, इंसाफ और आज़ादी का मुकम्मल हक़ मिल सके। लेकिन इस मजलिस में बैठे हुए हिंदुस्तानी मुसलमानों के नुमाइंदों के लिए यह सफर किसी आग के दरिया से गुज़रने से कम नहीं था। उनके कंधों पर एक ऐसी क्रौम के हुक्क महफूज़ करने की ज़िम्मेदारी थी, जो तक्रसीम के ज़ख्मों से चूर थी, जिसका एतमाद पूरी तरह टूट चुका था और जो अपने ही वतन में शक की निगाहों से देखी जा रही थी।

आईन साज़ मजलिस में मुसलमानों की नुमाइंदगी करने वाले चंद निहायत अहम और अज़ीम रहनुमा मौजूद थे। इनमें मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की दानिशमंदी, बेगम एज़ाज़ रसूल की बेबाकी, मौलाना हसरत मोहानी का इंकलाबी जज़्बा, और तजम्मुल हुसैन जैसे कानूनदानों की समझ-बूझ शामिल थी। इन रहनुमाओं को यह अच्छी तरह मालूम था कि तक्रसीम के बाद मुल्क की अक्सरियत के दिलों में मुसलमानों को लेकर कई तरह के सवालात और खदशात पैदा हो चुके हैं। इसलिए उन्हें एक निहायत नाज़ुक और मुश्किल काम अंजाम देना था। उन्हें एक तरफ अपनी क्रौम के वजूद, उनके मज़हब, उनकी तहज़ीब और उनके तालीमी हुक्क की हिफाज़त की ज़मानत लेनी थी, और दूसरी तरफ अक्सरियत के दिलों में यह भरोसा भी पैदा करना था कि हिंदुस्तानी मुसलमान इस मुल्क की तरक्की और जम्हूरियत में उनके बराबर के हिस्सेदार हैं। आईन साज़ मजलिस में सबसे बड़ी और तारीखी बहस इंतखाबी निज़ाम पर हुई। अंग्रेज़ों के दौर में मुसलमानों को जुदागाना इंतखाब का हक़ मिला हुआ था, जिसका मतलब यह था कि मुसलमानों के नुमाइंदों को सिर्फ़ मुसलमान अवाम ही चुन सकती थी।

लेकिन आज़ाद हिंदुस्तान की मजलिस में यह महसूस किया गया कि यही जुदागाना इंतखाब की सियासत मुल्क के बंटवारे की सबसे बड़ी वजह बनी थी। अब सवाल यह था कि क्या आज़ाद हिंदुस्तान में भी मुसलमानों के लिए सियासी सीटें मखसूस की जानी चाहिए? इस नाज़ुक मोड़ पर मुसलमानों के रहनुमाओं ने एक निहायत अज़ीम और तारीखी फैसला किया। उन्होंने मुल्क के इत्तेहाद और हिंदू-मुस्लिम भाईचारे की खातिर अपने इस सियासी हक़ की कुर्बानी देने का फैसला किया।

बेगम एज़ाज़ रसूल, जो मजलिस में वाहिद मुस्लिम खातून थीं, उन्होंने निहायत ज़ोरदार अंदाज़ में कहा कि जुदागाना इंतखाब और मज़हब के नाम पर सियासी सीटें मखसूस करना मुसलमानों को मुल्क की असल सियासत से हमेशा के लिए काट देगा। उन्होंने कहा कि हम एक सेक्युलर और जम्हूरी मुल्क का हिस्सा हैं, और हमें अक्सरियत पर पूरा भरोसा करना चाहिए। तजम्मुल हुसैन ने भी इस बात की तार्ईद करते हुए कहा कि अकलियतों को मुल्क की अक्सरियत के साथ मिलकर चलना होगा। इन रहनुमाओं का यह फैसला कोई आम सियासी फैसला नहीं था, बल्कि यह एक बहुत बड़ा एतमाद था जो उन्होंने मुल्क के हिंदू रहनुमाओं, जैसे पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल और डॉ भीमराव अंबेडकर पर किया था।

मुसलमानों ने मखसूस सियासी नुमाइंदगी के बजाय मुल्क के बुनियादी हुकूक पर अपना भरोसा जताया। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, जो आईन साज़ मजलिस की अहम कमेटियों का हिस्सा थे, उन्होंने खामोशी लेकिन पूरी मज़बूती के साथ यह यकीनी बनाया कि आईन में ऐसे बुनियादी हुकूक शामिल किए जाएं जो किसी भी शहरी के साथ मज़हब, ज़ात या नस्ल की बुनियाद पर भेदभाव को हमेशा के लिए खत्म कर दें। मौलाना आज़ाद का यह पुख्ता यकीन था कि अगर आईन हर इंसान को बराबरी का हक़ दे दे और उसकी मज़हबी और तालीमी आज़ादी की हिफाज़त की पूरी ज़मानत रियासत के सुपर्द कर दे, तो मुसलमानों को किसी मखसूस सियासी हक़ की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। आईन साज़ मजलिस की इन तवील बहसों और जद्दोज़हद के बाद, मुसलमानों के नुमाइंदों ने अपनी सियासी हैसियत को पीछे रखकर अपनी तहज़ीब, मज़हब और तालीम को महफूज़ रखने पर अपना पूरा ज़ोर लगा दिया।

यह उनका अवामी और मुल्की इत्तेहाद के लिए उठाया गया सबसे बड़ा कदम था। उन्होंने अपनी क़ौम को मुल्क के आईन के हवाले कर दिया, इस यक़ीन के साथ कि यह आईन उनके बच्चों के मुस्तक़बिल, उनकी मस्जिदों की अज़ान, और उनके मदरसों की तालीम की पूरी हिफ़ाज़त करेगा। आईन साज़ी का यह सफ़र हिंदुस्तानी मुसलमानों की बेमिसाल वफ़ादारी और उनके अटूट भरोसे की एक ऐसी दास्तान है, जिसे आज के दौर में अक्सर फ़रामोश कर दिया जाता है, लेकिन तारीख के पन्नों में यह सुनहरे हफ़ों में महफूज़ है।

बुनियादी हुकूक और मसावात का वादा (दफ़ा चौदह और पंद्रह)

तक्रसीम के खौफनाक दौर और नफरतों के उस सैलाब के बाद, जिसमें हर तरफ सिर्फ़ शक और खौफ का अंधेरा था, मुल्क का नया आईन हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए किसी रौशन सवरे से कम नहीं था। सदियों तक इस मुल्क ने बादशाहों का निज़ाम देखा था जहां इंसाफ और कानून हुक्मरान की मज़ी के मोहताज होते थे। उसके बाद अंग्रेज़ों का दौर आया, जिसने रंग, नस्ल और मज़हब की बुनियाद पर लोगों को बांटने और उन पर हुक्मत करने का निज़ाम कायम किया। लेकिन आज़ाद हिंदुस्तान की आईन साज़ मजलिस ने तारीख का रुख मोड़ते हुए एक ऐसा फैसला किया जिसने इस मुल्क में रहने वाले हर इंसान की हैसियत को हमेशा के लिए बदल दिया। आईन ने अवाम को रियाया यानी हुक्मरानों के मोहताज से निकालकर इस मुल्क का बराबर का शहरी बना दिया। इस तब्दीली का सबसे बड़ा और सबसे अहम हिस्सा आईन के बुनियादी हुकूक थे, जिन्होंने मुल्क के हर शहरी को बराबरी और मसावात की पूरी ज़मानत दी।

आईन की दफ़ा चौदह मुल्क के कानूनी निज़ाम की सबसे मज़बूत बुनियाद है। यह दफ़ा मुल्क के हर शहरी को इस बात की ज़मानत देती है कि कानून की नज़र में सब बराबर हैं। इसका सीधा और साफ मतलब यह है कि मुल्क का कानून किसी इंसान का मज़हब, उसकी ज़ात, उसका रुतबा या उसकी दौलत देखकर फैसला नहीं करेगा। एक डरे और सहमे हुए अकलियती तबके के लिए, जो अभी-अभी बंटवारे के दर्द से गुज़रा था, यह दफ़ा किसी मरहम से कम नहीं थी।

इस कानून ने इस बात को यकीनी बनाया कि दिल्ली के किसी बड़े महल में बैठने वाले हुक्मरान और बनारस या मुरादाबाद की किसी तंग गली में रहने वाले एक गरीब मुसलमान कारीगर की हैसियत कानून की नज़र में बिल्कुल एक बराबर है। अगर किसी के हुक्क मारे जाते हैं, तो मुल्क की अदालतें यह नहीं पूछेंगी कि फरियादी हिंदू है या मुसलमान, बल्कि अदालत सिर्फ़ इंसाफ़ के तराजू पर फैसला करेगी। कानून की इस मुकम्मल बराबरी ने मुसलमानों के दिलों में पल रहे उस खौफ़ को खत्म करने का काम किया कि अक्सरियत वाले मुल्क में उनके साथ कोई ज़्यादाती हो सकती है।

इसी तरह, आईन की दफ़ा पंद्रह ने मसावात और बराबरी के इस वादे को अमली जामा पहनाया। यह दफ़ा रियासत को इस बात का पाबंद करती है कि वह किसी भी शहरी के साथ सिर्फ़ मज़हब, नस्ल, ज़ात, जिंस या पैदाइश की जगह की बुनियाद पर कोई भेदभाव नहीं करेगी। हिंदुस्तानी मुआशरे की तारीख़ में यह एक बहुत बड़ा इंक़लाब था। इस दफ़ा ने उन तमाम पुरानी रिवायतों और नफरतों पर कानूनी पाबंदी लगा दी जो इंसानों को एक दूसरे से छोटा या बड़ा साबित करती थीं। इस कानून ने साफ़ कर दिया कि मुल्क की कोई भी सड़क, कोई भी अस्पताल, कोई भी तालीमी इदारा, कोई भी सरकारी कुआं या कोई भी ऐसी जगह जो अवाम के लिए बनी है, वहां किसी भी मुसलमान को सिर्फ़ उसके मज़हब या अक़ीदे की वजह से जाने से नहीं रोका जा सकता।

आज़ादी के फौरन बाद जब मुल्क में साम्प्रदायिक और फिरकावाराना सोच बहुत तेज़ी से फैल रही थी, तब दफ़ा पंद्रह ने हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए एक मज़बूत ढाल का काम किया। यह सिर्फ़ एक कानूनी वादा नहीं था, बल्कि यह रियासत का वह पक्का अहद था कि मुल्क के वसाइल, सरकारी नौकरियों और तरक्की के मौकों में मुसलमानों का हिस्सा भी उतना ही है जितना किसी और का। अगर कोई सरकारी अफसर या कोई इदारा किसी मुसलमान के साथ उसके नाम या उसके मज़हब की वजह से नौकरी देने या तालीम हासिल करने में कोई भेदभाव करता है, तो वह आईन की नज़रों में एक बड़ा जुर्म कर रहा है।

इन दोनों बुनियादी हुकूक ने मिलकर हिंदुस्तानी मुसलमान को एक नई पहचान दी। तक्रसीम की वजह से जो मुसलमान खुद को सियासी तौर पर यतीम और कमज़ोर महसूस कर रहा था, आईन ने उसे एहसास दिलाया कि वह इस मुल्क में किसी के रहमो-करम पर नहीं रह रहा है। वह इस मुल्क का एक बा-वकार और इज़्ज़तदार शहरी है और उसके हुकूक की हिफाज़त किसी सियासी रहनुमा की मेहरबानी नहीं, बल्कि मुल्क के आईन की सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी है। इसी मसावात और बराबरी के वादे ने मुसलमानों को यह हौसला दिया कि वह अपने पुराने ज़ख्मों को भूलकर मुल्क की तामीर और तरक्की में अपना भरपूर किरदार अदा करें।

मज़हबी आज़ादी का हक़ (दफ़ा पच्चीस से अट्ठाईस)

दुनिया की किसी भी क़ौम के लिए उसका मज़हब, उसका अक़ीदा और उसकी इबादत का तरीका उसकी पहचान का सबसे अहम हिस्सा होता है। एक मुसलमान की ज़िंदगी का कोई भी पहलू उसके मज़हब से अलग नहीं हो सकता। तक्रसीम के बाद जब हिंदुस्तान एक हिंदू अक्सरियती मुल्क के तौर पर उभर रहा था, तो आम मुसलमानों के दिलों में सबसे बड़ा और गहरा खौफ यही था कि क्या नए मुल्क में उनकी मस्जिदें आबाद रह सकेंगी? क्या उनके अज़ान देने, नमाज़ पढ़ने, रमज़ान के रोज़े रखने और अपने इस्लामी तौर-तरीकों पर ज़िंदगी गुज़ारने पर कोई पाबंदी तो नहीं लगा दी जाएगी? लेकिन आईन साज़ मजलिस ने इन तमाम खदशात को हमेशा के लिए दफन कर दिया। मुल्क के आईन ने मज़हबी आज़ादी को एक ऐसा बुनियादी हक़ बना दिया जिसे हुकूमत चाह कर भी किसी शहरी से नहीं छीन सकती। आईन की दफ़ा पच्चीस हिंदुस्तान के हर शहरी को अपने ज़मीर की आवाज़ सुनने और अपने मज़हब को आज़ादी के साथ मानने, उस पर मुकम्मल तौर पर अमल करने और उसका पैग़ाम दूसरों तक पहुंचाने का पूरा हक़ देती है। हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए यह दफ़ा किसी अज़ीम नेमत से कम नहीं थी। इस एक कानून ने इस बात की ज़मानत दे दी कि हिंदुस्तान की मस्जिदों के मीनारों से अज़ान की आवाज़ उसी शान के साथ गूंजती रहेगी जैसे सदियों से गूंजती आई है। एक मुसलमान को अपने लिबास, अपनी दाढ़ी, अपने इस्लामी तौर-तरीकों और अपनी इबादतों के साथ इस मुल्क में जीने का पूरा कानूनी हक़ हासिल है। हुकूमत या कोई भी अक्सरियती तबका किसी भी मुसलमान को उसके मज़हब पर अमल करने से नहीं रोक सकता। इस दफ़ा ने मुसलमानों को यह यक़ीन दिलाया कि उनका अक़ीदा इस मुल्क में पूरी तरह महफूज़ है और उन्हें अपनी मज़हबी पहचान को छिपाने या बदलने की कोई ज़रूरत नहीं है।

मज़हब पर अमल करने की आज़ादी के साथ-साथ, मज़हबी इदारों को चलाने की आज़ादी भी उतनी ही ज़रूरी थी। आईन की दफ़ा छब्बीस ने मुसलमानों को अपने मज़हबी और खैराती इदारे कायम करने और उनका इंतज़ाम खुद संभालने की मुकम्मल आज़ादी दी। इसी हक़ के तहत मुसलमानों को अपनी मस्जिदों, ईदगाहों, खानकाहों, और वक्फ बोर्ड की जायदादों का इंतज़ाम अपनी मज़हबी रिवायतों के मुताबिक करने का कानूनी इख्तियार मिला। यह दफ़ा इस बात की ज़मानत है कि हुकूमत मज़हबी इदारों के अंदरूनी मामलात में बेवजह दखलअंदाज़ी नहीं करेगी। अगर मुसलमान अपने चंदे और अपनी ज़कात से कोई मदरसा या कोई यतीमखाना चलाते हैं, तो उसका निज़ाम वे खुद तय करेंगे। इस हुकूक ने मुसलमानों के अंदर अपने मुआशरे को मज़हबी तौर पर मुनज़ज़म करने और अपनी रिवायतों को अगली नस्तों तक मुंतकिल करने का एक नया हौसला अता किया। दफ़ा सत्ताईस और अट्ठाईस ने मुल्क के सेक्युलर निज़ाम को और भी ज़्यादा मज़बूत कर दिया। दफ़ा सत्ताईस हुकूमत को इस बात से रोकती है कि वह किसी एक खास मज़हब की तरक्की या उसे बढ़ावा देने के लिए अवाम से कोई टैक्स वसूल करे। इसका सीधा मतलब यह था कि रियासत का अपना कोई मज़हब नहीं होगा और सरकारी खज़ाने का इस्तेमाल किसी एक अक़ीदे को दूसरों पर मुसल्लत करने के लिए नहीं किया जाएगा। वहीं, दफ़ा अट्ठाईस ने इस बात को यकीनी बनाया कि हुकूमत के ज़रिए चलने वाले या हुकूमत से माली मदद लेने वाले किसी भी तालीमी इदारे में किसी तालिब-ए-इल्म को कोई खास मज़हबी तालीम हासिल करने पर मजबूर नहीं किया जाएगा।

इन तमाम दफ़ाओं ने मिलकर एक ऐसा मज़बूत कानूनी किला तैयार किया जिसने हिंदुस्तानी मुसलमानों की मज़हबी पहचान को हर तरह के हमलों से महफूज़ कर दिया। उस खौफनाक दौर में जब सरहद के उस पार मज़हब के नाम पर एक नया मुल्क बन रहा था, हिंदुस्तान के आईन ने यह साबित कर दिया कि एक सेक्युलर जम्हूरियत में मज़हबी आज़ादी किसी मज़हबी मुल्क से कहीं ज़्यादा महफूज़ और बा-वकार होती है। आईन के इन वादों ने मुसलमानों के दिलों से बेगानगी का एहसास हमेशा के लिए मिटा दिया और उन्हें यह फख्र अता किया कि वे अपने मुकम्मल इस्लामी अक़ीदे के साथ एक सच्चे हिंदुस्तानी शहरी बन कर जी सकते हैं।

तालीमी और सक्राफ़ती हुकूक (दफ़ा उनतीस और तीस)

किसी भी मुल्क में जब कोई क़ौम अकलियत (अल्पसंख्यक) में होती है, तो उसे अपनी जान और माल से भी ज़्यादा अपनी पहचान मिट जाने का खौफ सताता है। तक्रसीम के फौरन बाद हिंदुस्तानी मुसलमानों को भी एक ऐसे ही खौफनाक अंदेशे ने घेर लिया था। उन्हें यह डर था कि कहीं अक्सरियत की ज़बरदस्त तादाद और उनके सियासी असर-ओ-रसूख के आगे उनकी सदियों पुरानी तहज़ीब, उनका रहन-सहन और उनकी मीठी ज़बान हमेशा के लिए खत्म न हो जाए। उर्दू ज़बान, जिसने इसी मुल्क की मिट्टी में जन्म लिया था और जिसने इंकलाब ज़िंदाबाद का नारा देकर मुल्क को आज़ादी दिलाई थी, उसे अचानक बंटवारे की ज़बान कहकर नफरत का निशाना बनाया जाने लगा था। ऐसे नाज़ुक और संगीन हालात में, मुल्क के आईन ने हिंदुस्तानी मुसलमानों की तहज़ीब और ज़बान की हिफ़ाज़त के लिए एक ऐसी मज़बूत कानूनी ढाल फराहम की, जिसने उनकी आने वाली नस्लों का मुस्तकबिल महफूज़ कर दिया।

आईन की दफ़ा उनतीस अकलियतों के सक्राफ़ती यानी तहज़ीबी हुकूक की सबसे बड़ी मुहाफ़िज़ (रक्षक) है। यह दफ़ा मुल्क में रहने वाले हर उस तबके को, जिसकी अपनी एक अलग ज़बान, अपना अलग रस्म-उल-खत (लिपि) या अपनी अलग तहज़ीब है, उसे महफूज़ रखने और उसे फरोज़ देने का मुकम्मल हक़ देती है। हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए इस दफ़ा की अहमियत लफ़्ज़ों में बयान नहीं की जा सकती। इसी कानून ने मुसलमानों को यह ताक़त दी कि वह फख़ के साथ अपनी ज़बान उर्दू को ज़िंदा रख सकें, अपने अदब को संवार सकें और अपनी तहज़ीबी पहचान को किसी भी अक्सरियती दबाव के आगे झुकने न दें। हुकूमत को यह कानूनी इख्तियार नहीं है कि वह किसी भी अकलियत पर ज़बरदस्ती अपनी कोई ज़बान या तहज़ीब मुसल्लत करे। इस दफ़ा ने मुसलमानों को यह इत्मीनान दिलाया कि वह इस मुल्क के बराबर के शहरी होते हुए भी अपनी एक अलग और मुनफ़रिद (अनोखी) पहचान बनाए रख सकते हैं। ज़बान और तहज़ीब की हिफ़ाज़त तालीम के बग़ैर मुमकिन नहीं है। इसी हक़ीक़त को समझते हुए आईन साज़ मजलिस ने दफ़ा तीस को आईन का हिस्सा बनाया, जो तालीमी हुकूक की सबसे बड़ी और अज़ीम ज़मानत है।

दफ़ा तीस मुल्क की तमाम मज़हबी और ज़बानी अकलियतों को यह बुनियादी हक़ देती है कि वह अपनी पसंद के तालीमी इदारे कायम कर सकें और उनका इंतज़ाम खुद चला सकें। यह सिर्फ़ एक कानूनी दफ़ा नहीं थी, बल्कि यह मुसलमानों के लिए ज़िंदगी और मौत का मसला था। तक्रसीम के बाद मुसलमानों का जो तालीमी और मआशी नुकसान हुआ था, उसकी भरपाई सिर्फ़ तालीम के ज़रिए ही मुमकिन थी।

दफ़ा तीस के तहत ही हिंदुस्तानी मुसलमानों को यह हक़ हासिल हुआ कि वह अपने मदरसे कायम करें, अपने स्कूल और कॉलेज खोलें, और अपनी आने वाली नस्लों को दीनी (मज़हबी) तालीम के साथ-साथ असरी (आधुनिक) तालीम से भी आरास्ता करें। अगर आईन में यह दफ़ा मौजूद न होती, तो मुसलमानों के लिए अपने बच्चों को अपने अक़ीदे और अपनी रिवायतों के मुताबिक तालीम देना ना-मुमकिन हो जाता। इस कानून ने इस बात को यकीनी बनाया कि अगर मुसलमान कोई तालीमी इदारा बनाते हैं, तो हुकूमत उन्हें माली मदद (ग्रांट) देने में सिर्फ़ इस वजह से कोई भेदभाव नहीं करेगी कि उस इदारे का इंतज़ाम किसी अकलियत के हाथों में है।

आईन के इन दो अहम हुकूक ने हिंदुस्तानी मुसलमानों के दिलों में एक नया हौसला फूँका। जब मुल्क के चारों तरफ नफरत की आंधियां चल रही थीं और मुसलमानों को अपनी बक्रा का कोई रास्ता नज़र नहीं आ रहा था, तब दफ़ा उनतीस और तीस ने उन्हें एक ऐसा चिराग़ अता किया जिसकी रौशनी में उन्होंने अपने मुस्तकबिल को संवारा। इन्हीं हुकूक के सहारे मुसलमानों ने अपने तालीमी इदारों को आबाद किया, अपनी ज़बान को ज़िंदा रखा और यह साबित कर दिया कि वह अपनी तहज़ीब से समझौता किए बिना भी एक बेहतरीन और मुहिब्ब-ए-वतन हिंदुस्तानी बन सकते हैं। यह हुकूक सिर्फ़ काग़ज़ पर लिखे हुए अल्फ़ाज़ नहीं हैं, बल्कि यह इस बात का ज़िंदा सुबूत हैं कि हिंदुस्तान का आईन अपने हर शहरी की हिफ़ाज़त एक मां की तरह करता है।

आईन में गैर-मज़हबी निज़ाम की ज़मानत और अवाम का एतमाद

दुनिया के नक्शे पर जब हिंदुस्तान एक आज़ाद मुल्क के तौर पर उभरा, तो उसके सामने सबसे बड़ा सवाल यह था कि इस नए मुल्क का मिज़ाज कैसा होगा। मुल्क का बंटवारा मज़हब के नाम पर हुआ था, और सरहद के उस पार एक इस्लामी मुल्क अपनी शक्ति ले चुका था। उस वक़्त के खौफनाक और नफरत भरे हालात में यह बहुत आसान था कि हिंदुस्तान भी जज़्बात में बहकर खुद को एक मज़हबी रियासत डिक्लेयर कर देता। लेकिन मुल्क के अज़ीम रहनुमाओं और आईन साज़ मजलिस ने उस नफरत को पूरी तरह मुस्तर्द कर दिया। उन्होंने नफरत का जवाब नफरत से देने के बजाय, मुल्क के लिए एक ऐसे सेक्युलर यानी गैर-मज़हबी निज़ाम का इंतखाब किया जिसने पूरी दुनिया के सामने एक बेमिसाल तारीख रकम कर दी। आईन में गैर-मज़हबी निज़ाम की ज़मानत का मतलब यह हरगिज़ नहीं था कि मुल्क ला-दीन हो जाएगा या मज़हब से उसका कोई वास्ता नहीं रहेगा। हिंदुस्तान जैसे मुल्क में, जहां लोग अपने मज़हब से बेपनाह मोहब्बत करते हैं, वहां ला-दीनियत का कोई तसव्वुर नहीं हो सकता था। आईन के इस निज़ाम का सीधा और साफ मतलब यह था कि रियासत और हुकूमत का अपना कोई मज़हब नहीं होगा। रियासत की नज़रों में मुल्क का हर मज़हब बराबर मुकद्दस और काबिले एहताराम होगा। हुकूमत न तो किसी एक मज़हब की तरफदारी करेगी और न ही किसी दूसरे मज़हब को दबाने की कोशिश करेगी। यह निज़ाम एक ऐसा छाता था जिसके साये में मुल्क की हर अकलियत, चाहे वह मुसलमान हो, सिख हो, ईसाई हो या पारसी, खुद को पूरी तरह महफूज़ महसूस कर सकती थी। तक्रसीम के ज़ख्मों से चूर हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए आईन की यह ज़मानत आबे-हयात से कम नहीं थी। जो क्रौम बंटवारे के इल्ज़ाम और नफरतों की वजह से खुद को अपने ही वतन में बेगाना और यतीम महसूस कर रही थी, इस गैर-मज़हबी निज़ाम ने उनके सीनों में एक नई रूह फूंक दी। मुसलमानों ने यह महसूस किया कि मुल्क के रहनुमाओं ने उनके वजूद और उनके अक्कीदे को खुले दिल से कुबूल कर लिया है। जब आईन ने यह ऐलान किया कि इस मुल्क में हिंदू, मुसलमान, सिख और ईसाई सब एक बराबर के शहरी हैं, तो आम मुसलमान के दिल से वह खौफ हमेशा के लिए दूर हो गया कि अक्सरियत वाले इस मुल्क में उसकी हैसियत दूसरे दर्जे के शहरी की हो जाएगी।

इस आईनी ज़मानत का सबसे बड़ा नतीजा यह निकला कि हिंदुस्तानी मुसलमानों ने मुल्क के जम्हूरी निज़ाम पर अपना मुकम्मल एतमाद और भरोसा जताया। उन्होंने मायूसी के अंधेरो से निकलकर मुल्क की तामीर में अपना खून-पसीना एक करना शुरू किया। उजड़े हुए कारोबार दोबारा खड़े किए गए, बंद हो चुके तालीमी इदारे फिर से आबाद हुए और मस्जिदों में इबादतों का सिलसिला उसी पुरानी शान और अक़ीदत के साथ शुरू हो गया। मुसलमानों ने अपने वोट की ताकत को समझा और जम्हूरी निज़ाम का हिस्सा बनकर मुल्क की सियासत में अपना हक़ मांगना शुरू किया। उनका यह भरोसा सिर्फ़ एक कानूनी दस्तावेज़ पर नहीं था, बल्कि यह उस मुश्तरका तहज़ीब पर भरोसा था जिसे हिंदू और मुसलमानों ने सदियों तक साथ रहकर बनाया था।

लेकिन यहां एक बड़ा सवाल पैदा होता है। आईन ने हुकूक तो दे दिए, बराबरी का वादा भी कर लिया और मज़हबी आज़ादी की ज़मानत भी मुकम्मल कर दी, लेकिन क्या यह तमाम हुकूक ज़मीन पर उसी तरह उतरे जैसे कागज़ पर लिखे गए थे? क्या आम मुसलमान को वाकई वह बराबरी मिल सकी जिसका वादा आईन साज़ मजलिस ने किया था? आज़ादी के बाद के सफ़र में जब हम ज़मीनी हकीकत का जायज़ा लेते हैं, तो कागज़ पर लिखे हुए इन सुनहरे हुकूक और अवाम की असल ज़िंदगी के दरमियान एक बहुत बड़ा और खौफनाक फासला नज़र आता है।

चौथा बाब: आईनी हुकूक की नज़रअंदाज़ी और ज़मीनी हकीकत

कागज़ी हुकूक और ज़मीनी हकीकत का फासला

हिंदुस्तान का आईन जब लिखकर मुकम्मल हुआ, तो वह दुनिया के बेहतरीन और सबसे खूबसूरत कानूनी दस्तावेज़ों में से एक था। इसके पन्नों पर लिखी हुई हर दफ़ा में इंसान, बराबरी और भाईचारे की खुशबू रची-बसी थी। हिंदुस्तानी मुसलमानों ने भी इस आईन को सीने से लगाया और यह मुकम्मल यकीन कर लिया कि अब इस नए मुल्क में उनकी ज़िंदगी, उनका माल और उनकी इज़्ज़त पूरी तरह महफूज़ है। उन्हें लगा कि आईन की शकल में उन्हें एक ऐसा मज़बूत किला मिल गया है, जिसे नफरत की कोई भी आंधी नुकसान नहीं पहुँचा सकती। लेकिन सियासत और तारीख का एक बहुत ही कड़वा सच यह है कि कोई भी कानून चाहे कागज़ पर कितना ही मुकद्दस और मज़बूत क्यों न हो, उसकी असल ताकत उन लोगों की ज़हनियत पर मुनहसिर होती है जिनके हाथों में उस कानून को लागू करने की ताक़त होती है। और यहीं से हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए एक नए और तकलीफदेह सफर का आगाज़ हुआ।

आज़ादी के बाद मुल्क की हुकूमतें तो बदल गईं, लेकिन सरकारी दफ्तरों, पुलिस थानों और हुक्मरानी की कुर्सियों पर बैठे हुए बहुत से लोगों की ज़हनियत नहीं बदली। तक्रसीम के खौफनाक फसादात ने मुल्क की आबोहवा में ज़हर घोल दिया था। जिन लोगों के दिलों में बंटवारे का गुस्सा और मुसलमानों के खिलाफ नफरत पल रही थी, आज़ादी के बाद वही लोग सरकारी निज़ाम का अहम हिस्सा बन गए। आईन ने तो कह दिया कि कानून की नज़र में सब बराबर हैं, लेकिन जब एक आम मुसलमान अपनी फरियाद लेकर किसी थानेदार, किसी मुकामी अफसर या किसी सरकारी बाबू के पास पहुँचता था, तो उसे आईन के पन्नों वाली बराबरी नहीं मिलती थी। उसे शक, नफरत और तास्सुब (भेदभाव) का सामना करना पड़ता था। कागज़ पर लिखे हुए सुनहरे हुकूक और सरकारी दफ्तरों की बेरहम हकीकत के दरमियान एक बहुत गहरा और खौफनाक फासला पैदा हो चुका था। यह फासला कोई एक दिन में नहीं बना, बल्कि इसे एक सोची-समझी खामोश नफरत ने परवान चढ़ाया।

मुसलमानों को हर कदम पर अपनी वफादारी का सुबूत देने के लिए मजबूर किया जाने लगा। मुल्क के दीगर अवाम के लिए हिंदुस्तानी होना एक पैदाइशी हक था, लेकिन एक मुसलमान के लिए हिंदुस्तानी होना एक ऐसा इम्तिहान बन गया जिसे उसे रोज़ाना पास करना पड़ता था। अगर कोई हिंदू हुकूमत की पॉलिसियों पर सवाल उठाता, तो उसे मुल्क का एक ज़िम्मेदार शहरी माना जाता, लेकिन अगर कोई मुसलमान अपने हुकूक की बात करता या हुकूमत की किसी नाइंसाफी के खिलाफ आवाज़ उठाता, तो उसकी नीयत पर फौरन शक किया जाने लगता। उसे पाकिस्तान परस्त या मुल्क का गद्दार साबित करने में ज़रा भी देर नहीं लगाई जाती थी। इस नफ़्सियाती जुल्म ने आम मुसलमान का हौसला इस कदर तोड़ दिया कि वह अपने आईनी हुकूक मांगने से भी डरने लगा।

ज़मीनी हकीकत यह थी कि आईन साज़ मजलिस के अज़ीम रहनुमाओं ने जो वादे किए थे, वह मुकामी सतह तक पहुँचते-पहुँचते दम तोड़ चुके थे। संसद और विधानसभाओं में बैठे हुए आला हुक्मरान मुल्क के सेक्युलर होने की बड़ी-बड़ी तकरीरें करते थे, लेकिन ज़मीन पर काम करने वाले निज़ाम ने मुसलमानों को मुल्क के अहम फैसलों और तरक्की के सफर से खामोशी के साथ किनारे करना शुरू कर दिया था। छोटे-मोटे सरकारी काम हों, बैंक से कर्ज़ लेना हो, या कारोबार के लिए कोई इजाज़तनामा हासिल करना हो, मुसलमानों के लिए हर काम को जान-बूझकर मुश्किल बना दिया गया।

इस खामोश नाइंसाफी का सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि मुल्क का मुसलमान जो आज़ादी के फौरन बाद तरक्की के ख्वाब देख रहा था, वह वापस अपनी हिफाज़त और अपनी जान बचाने की जद्दोज़हद में उलझ कर रह गया। आईन की किताब में दफ़ा चौदह और पंद्रह की बराबरी चीख-चीख कर इंसाफ मांग रही थी, लेकिन ज़मीन पर तास्सुब की दीवारें इतनी ऊंची कर दी गई थीं कि वहां तक आईन की आवाज़ पहुँच ही नहीं पा रही थी। यह कागज़ी हुकूक और ज़मीनी हकीकत का वह फासला था, जिसने आने वाले दशकों में हिंदुस्तानी मुसलमानों को मआशी और सामाजी तौर पर बहुत पीछे धकेल दिया।

फसादात का नासूर और जान-ओ-माल का नुकसान

आज़ाद हिंदुस्तान के आईन ने हर शहरी को हिफ़ाज़त और सुकून की ज़िंदगी की ज़मानत दी थी। तक्रसीम के खौफनाक दौर के बाद, हिंदुस्तानी मुसलमानों ने यह उम्मीद बांध ली थी कि अब इस मुल्क की ज़मीन पर दोबारा कभी मज़हब के नाम पर खून नहीं बहेगा। लेकिन तारीख का यह एक बहुत ही स्याह और कड़वा सच है कि आज़ादी के बाद भी फसादात का सिलसिला कभी मुकम्मल तौर पर थमा नहीं। मुल्क के माथे पर फसादात का यह नासूर एक ऐसा ज़ख्म बन गया जिसने हर बार रिसकर मुसलमानों को यह याद दिलाया कि उनकी जान और माल मुकम्मल तौर पर महफूज़ नहीं हैं। आईन की किताबों में महफूज़ किए गए हुकूक, जब गलियों और मोहल्लों में नफरत की आग भड़कती थी, तो धुएं के साथ उड़ते हुए नज़र आते थे।

आज़ादी के बाद की दहाइयों में, जबलपुर, भिवंडी, मुरादाबाद, मेरठ, भागलपुर और फिर बाद में गुजरात जैसे कई खौफनाक फसादात ने मुल्क की रूह को झकझोर कर रख दिया। ये फसादात सिर्फ अचानक भड़कने वाले जज़्बात का नतीजा नहीं थे, बल्कि ज़्यादातर मामलों में यह सोची-समझी साज़िशों का हिस्सा होते थे। इनका सबसे बड़ा मक़सद सिर्फ जान लेना नहीं था, बल्कि हिंदुस्तानी मुसलमानों को नफ्सियाती (मनोवैज्ञानिक) और मआशी (आर्थिक) तौर पर तबाह करना था। मुरादाबाद के पीतल के कारखाने हों या भागलपुर के बुनकरों के करघे, फसादात के दौरान हमेशा मुसलमानों के उन कारोबारों को निशाना बनाया गया जो उन्हें मआशी तौर पर मज़बूत कर रहे थे। एक फसाद में सिर्फ चंद घर नहीं जलते थे, बल्कि मुसलमानों की कई नस्लों की मेहनत और उनके रोज़गार के ज़राए राख कर दिए जाते थे, जिससे उभरने में उन्हें फिर से कई दहाइयां लग जाती थीं।

लेकिन इन फसादात में सबसे ज़्यादा दिल तोड़ने वाली बात दंगाइयों का हमला नहीं था, बल्कि रियासत और मुकामी निज़ाम का रवैया था। जब नफरत का सैलाब उठता था, तो जिन पुलिस वालों और मुकामी अफसरों पर अवाम की हिफ़ाज़त की ज़िम्मेदारी होती थी, उनमें से कई का रवैया निहायत तास्सुब (भेदभाव) से भरा होता था।

कई सरकारी कमीशनों और कमेटियों की रिपोर्टों ने यह तस्दीक की है कि फसादात के दौरान पुलिस का किरदार अक्सर गैर-जानिबदार नहीं रहा। या तो वे खामोश तमाशाई बने रहे, या फिर उन्होंने जान-बूझकर दंगाइयों को खुली छूट दे दी। जिन हाथों में कानून का डंडा था, जब वे खुद नफरत की सियासत के मोहरे बन गए, तो एक आम मुसलमान अपनी फरियाद लेकर किसके पास जाता? आईन ने जिस हिफ़ाज़त का वादा किया था, वह पुलिस थानों की चौखट पर दम तोड़ देता था।

इन फसादात ने मुसलमानों के सीनों में दोबारा वह खौफ ज़िंदा कर दिया जिसे आईन साज़ मजलिस ने बड़ी मुश्किल से खत्म किया था। हर फसाद के बाद मुकामी सतह पर एक अजीब सी बेगानगी और अलगाव पैदा होने लगा। जो मुसलमान मुश्तरका मोहल्लों में अपने हिंदू पड़ोसियों के साथ सदियों से रहते आए थे, वे फसादात के खौफ से अपने घर छोड़ने पर मजबूर हो गए। अपनी हिफ़ाज़त की खातिर मुसलमान सिमट कर खास मुस्लिम बहुल इलाकों में जाने लगे, जिसे अक्सर लोग 'घेटो' या मुस्लिम बस्तियों का नाम देते हैं। यह बस्तियां उनका शौक नहीं बल्कि उनके खौफ की पैदावार थीं। इस अलगाव ने दो क़ौमों के दरमियान फासलों को और बढ़ा दिया, जिससे नफरत की सियासत करने वालों को और ज़्यादा फायदा हुआ।

हर बड़े फसाद के बाद हुकूमतों ने कमेटियां तो बनाई, रिपोर्टें भी तैयार हुईं, लेकिन इंसाफ का पहिया कभी तेज़ी से नहीं घूमा। जिन लोगों ने खून-खराबा किया, जिन्होंने आग लगाई, वे अक्सर सबूतों की कमी या सियासी सरपरस्ती की वजह से साफ बच निकलते थे। इंसाफ में होने वाली इस ताखीर (देरी) ने मुसलमानों को यह एहसास दिलाया कि आईन के पन्नों पर तो वह बराबर के शहरी हैं, लेकिन जब बात उनके जान-ओ-माल के नुकसान की आती है, तो रियासत की नज़रें फेर ली जाती हैं। फसादात का यह नासूर सिर्फ हिंदुस्तानी मुसलमानों की तबाही का सबब नहीं बना, बल्कि इसने इस अज़ीम मुल्क के सेक्युलर निज़ाम और जम्हूरियत के माथे पर भी एक ऐसा दाग लगा दिया, जिसे धोना आज भी मुमकिन नहीं हो सका है।

रोज़गार और सरकारी महकमों में भेदभाव

आईन ने मुल्क के हर शहरी को रोज़गार और तरक्की के यकसां (समान) मौके फराहम करने का पक्का वादा किया था। आईन की दफ़ा सोलह ने निहायत साफ लफ़्ज़ों में यह ऐलान किया था कि सरकारी नौकरियों और हुकूमती ओहदों पर किसी भी इंसान के साथ उसके मज़हब, ज़ात या नस्ल की बुनियाद पर कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। लेकिन आज़ादी के बाद जब इस मुकद्दस कानून को ज़मीन पर उतारने का वक़्त आया, तो सरकारी दफ्तरों में बैठी हुई तास्सुब (भेदभाव) पसंद ज़हनियत ने इस वादे की धज्जियां उड़ा दीं। तक्रसीम से पहले सरकारी महकमों और निज़ाम में मुसलमानों की एक अच्छी खासी तादाद हुआ करती थी, लेकिन आज़ादी के फौरन बाद यह तादाद तेज़ी से गिरने लगी। यह महज़ कोई इत्तेफाक नहीं था, बल्कि यह एक खामोश और सोची-समझी ज़हनी साज़िश थी जिसके तहत मुसलमानों को मुल्क के अहम सरकारी और मआशी निज़ाम से आहिस्ता-आहिस्ता बेदखल किया जा रहा था।

रोज़गार में इस भेदभाव का सबसे खौफनाक और शर्मनाक नज़ारा मुल्क की पुलिस, फौज और दीगर हिफ़ाज़ती दस्तों में देखने को मिला। किसी भी मुल्क में हिफ़ाज़ती दस्तों में अवाम की नुमाइंदगी उस मुल्क के अपनी क्रौम पर एतमाद की अलामत होती है। लेकिन आज़ादी के बाद, वफादारी के नाम पर मुसलमानों को हर कदम पर शक की निगाह से देखा जाने लगा। पुलिस और फौज की भर्तियों में एक गैर-ऐलानिया पाबंदी सी लगा दी गई। जब भी कोई नौजवान मुसलमान फौज या पुलिस में भर्ती के लिए जाता, तो उसकी काबलियत और उसके ज़ब्बे से ज़्यादा उसके मज़हब और उसके नाम को शक की तराजू पर तौला जाता। यह एक निहायत तकलीफदेह और दिल चीर देने वाली हकीकत है कि जिन मुसलमानों ने इस मुल्क की खातिर तक्रसीम के नज़रिया को ठोकर मारी थी, उन्हीं नौजवानों को महज़ उनके नाम की वजह से यह कहकर नौकरियों से महरूम कर दिया गया कि शायद उनकी वफादारी इस मुल्क के साथ मुकम्मल नहीं है। इस ज़हरीले रवैये ने पुलिस और हिफ़ाज़ती महकमों में मुसलमानों की तादाद को इस कदर कम कर दिया कि वे इन महकमों में न के बराबर रह गए। सिर्फ हिफ़ाज़ती महकमे ही नहीं, बल्कि आम सरकारी दफ्तरों, रेलवे, तालीमी इदारों और माल्याती इदारों में भी मुसलमानों के साथ मुसलसल सौतेला सुलूक किया गया।

भर्ती करने वाले इम्तिहानी बोर्ड और अफसरशाही में बैठे हुए कुछ तास्सुब पसंद लोगों ने ऐसे हालात पैदा कर दिए कि एक आला तालीम याफ्ता और काबिले-तारीफ मुसलमान नौजवान भी सरकारी नौकरी हासिल करने में खुद को बेबस और लाचार महसूस करने लगा। अगर कभी कोई मुसलमान अपनी काबलियत के दम पर किसी अहम ओहदे तक पहुँच भी जाता, तो अक्सर उसे बड़े और अहम फैसले लेने वाली ज़िम्मेदारियों से दूर रखा जाता। बड़े महकमों में मुसलमानों की मौजूदगी को जान-बूझकर कमज़ोर किया गया ताकि वे मुल्क की हिकमत-ए-अमली और अहम फैसलों का हिस्सा न बन सकें। यह वह खामोश जुल्म था जिसका शिकार हर उस मुसलमान नौजवान को होना पड़ा जिसने पढ़-लिखकर अपने मुस्तकबिल को संवारने का ख्वाब देखा था। जब सरकारी नौकरियों के दरवाज़े मुसलमानों के लिए एक-एक करके बंद होने लगे, तो उनके पास ज़िंदा रहने के लिए सिर्फ अपनी मेहनत और हुनर का सहारा बचा। मजबूरी और मायूसी के इस आलम में मुसलमान नौजवानों ने सरकारी दफ्तरों की तरफ देखना छोड़ दिया और वे छोटे-मोटे कारोबार, कारीगरी, और मज़दूरी की तरफ मुड़ गए। इसी दौर में मुसलमान मैकेनिक, बुनकर, दर्ज़ी, और छोटे दुकानदारों की एक बहुत बड़ी तादाद उभर कर सामने आई। वे दिन-रात पसीना बहाकर मुल्क की मआशत को तो मज़बूत कर रहे थे, लेकिन खुद मआशी तौर पर बहुत पिछड़ते जा रहे थे। हुकूमत की तरफ से इन हुनरमंद कारीगरों को अपने कारोबार बढ़ाने के लिए न तो कोई खास मदद दी गई और न ही बैंकों से आसानी से कर्ज़ फ़राहम किया गया। रियासत की इस नज़रअंदाज़ी ने मुसलमानों की एक बहुत बड़ी आबादी को गरीबी और पसमंदगी के एक ऐसे अंधेरे गार में धकेल दिया, जहां से बाहर निकलना उनके लिए नामुमकिन सा हो गया।

रोज़गार और मआशी आज़ादी किसी भी इंसान के वकार और इज़्ज़त की बुनियाद होती है। जब एक क़ौम को मुसलसल रोज़गार और तरक्की के मौकों से महरूम रखा जाता है, तो उसके अंदर एक गहरी मायूसी और बेगानगी पैदा होने लगती है। सरकारी महकमों में मुसलमानों की गैर-मौजूदगी ने आम मुसलमान को यह एहसास दिलाया कि यह मुल्क और इसका निज़ाम उन्हें अपना हिस्सा नहीं समझता। एक नौजवान मुसलमान जब यह देखता कि उसके हम-उम्र पड़ोसियों को आसानी से नौकरी मिल गई और उसे सिर्फ उसके मज़हब की वजह से वापस कर दिया गया, तो उसका आईन और जम्हूरियत पर से भरोसा टूटने लगता।

इस मआशी भेदभाव ने हिंदुस्तानी मुसलमानों की पूरी नस्ल को इतना कमज़ोर कर दिया कि उनके लिए अपने बच्चों को अच्छी तालीम दिलाना भी एक ख्वाब बनकर रह गया। यह मुल्क के आईन की वह खुली नज़रअंदाज़ी थी जिसका हर्जाना मुसलमान मुआशरा आज तक भुगत रहा है।

उर्दू ज़बान और तालीम के साथ सौतेला सुलूक

ज़बान सिर्फ़ बातचीत का ज़रिया नहीं होती, बल्कि यह किसी भी क़ौम की तारीख, उसकी तहज़ीब और उसकी रूह की सबसे बड़ी अलामत होती है। उर्दू ज़बान मुल्क की उस मुश्तरका गंगा-जमुनी तहज़ीब की सबसे हसीन पैदावार थी जिसने हिंदू और मुसलमानों को सदियों तक एक धागे में पिरो कर रखा था। यह कोई बाहर से आई हुई ज़बान नहीं थी, बल्कि इसी मुल्क की आबोहवा, यहां के बाज़ारों और यहां की अवाम के बीच परवान चढ़ी थी। आज़ादी की लड़ाई में इंकलाब ज़िंदाबाद से लेकर सरफ़रोशी की तमन्ना तक, तमाम अज़ीम नारे इसी ज़बान ने मुल्क को दिए थे। लेकिन तक्रसीम के खौफनाक सैलाब ने जहां ज़मीनों को बांटा, वहीं ज़बानों का भी मज़हब तय कर दिया। आज़ादी के बाद उर्दू ज़बान के साथ जो सौतेला और बेरहम सुलूक किया गया, वह इस मुल्क की तारीख का एक निहायत ही अफ़सोसनाक बाब है। मुल्क की एक बहुत बड़ी तादाद ने उर्दू को सिर्फ़ मुसलमानों की ज़बान और फिर पाकिस्तान की ज़बान कहकर उसे शक और नफरत का निशाना बना दिया। आईन की दफ़ा उनतीस और तीस ने ज़बान और तालीम की हिफ़ाज़त का जो सुनहरा वादा किया था, वह ज़मीनी सतह पर बहुत जल्द दम तोड़ने लगा। शिमाली हिंदुस्तान, खास तौर पर उत्तर प्रदेश, बिहार और देहली में, जहां उर्दू का जन्म हुआ था और जो इसका मरकज़ था, वहीं उर्दू को एक सोची-समझी ज़हनी साज़िश के तहत सरकारी स्कूलों, दफ़्तरों और अदालतों से बाहर कर दिया गया। एक दौर था जब सरकारी फरमान और अदालती फैसले उर्दू में लिखे जाते थे, लेकिन रातों-रात इस ज़बान को बेगाना कर दिया गया। स्कूलों के निसाब से उर्दू को खामोशी के साथ गायब कर दिया गया और उसकी जगह एक ऐसी ज़बान मुसल्लत कर दी गई जिससे मुसलमान बच्चे ना-आश्रा थे। जिन बच्चों के घरों में उर्दू बोली जाती थी, जब वो स्कूल जाते तो उन्हें अपनी ही ज़बान में तालीम हासिल करने का हक़ नहीं दिया जाता था। यह सिर्फ़ एक ज़बान का क़त्ल नहीं था, बल्कि यह मुसलमानों की आने वाली नस्लों को उनकी तारीख, उनके अदब और उनके मज़हबी विरसे से काटने की एक गहरी साज़िश थी।

तालीमी इदारों के मामले में भी मुसलमानों के साथ हुकूमतों का रवैया निहायत तास्सुब से भरा रहा। आईन ने मुसलमानों को अपने तालीमी इदारे कायम करने का जो हक्क दिया था, सरकारी मशीनरी ने उसे ज़मीन पर लागू होने से रोकने के लिए हर मुमकिन रुकावट खड़ी कर दी। मुसलमानों ने अपने चंदे और अपनी मेहनत से जो भी स्कूल, कॉलेज और मदरसे कायम किए, उन्हें सरकारी मदद या मंजूरी हासिल करने के लिए लोहे के चने चबाने पड़ते थे। दफ्तरों में बैठे हुए अफसरान किसी न किसी सरकारी कायदे का बहाना बनाकर मुस्लिम तालीमी इदारों की फाइलें सालों तक रोके रखते थे। अगर किसी स्कूल को मंजूरी मिल भी जाती, तो सरकारी खज़ाने से मिलने वाली इमदाद इतनी कम और इतनी देर से आती थी कि वह इदारे कभी भी एक मियारी और आला दर्जे की तालीम देने के काबिल नहीं बन पाते थे।

इस सौतेले सुलूक का सबसे बड़ा और खौफनाक नुकसान यह हुआ कि मुल्क का मुसलमान तालीम के मैदान में मुसलसल पीछे होता चला गया। जो ज़बान उनकी तहज़ीब का आईना थी, वह धीरे-धीरे सिर्फ मदरसों और मस्जिदों के हुज्रों तक सिमट कर रह गई। मुसलमान नौजवान जब तालीम हासिल करने के लिए निकलता, तो उसे ऐसा महसूस होता जैसे हुकूमत का पूरा तालीमी निज़ाम उसे अपना हिस्सा मानने को तैयार ही नहीं है। ज़बान छिन जाने से नई नस्ल का रिश्ता अपने अज़ीम मुफ़क्किरों, शायरों और रहनुमाओं की किताबों से टूट गया। एक तरफ रोज़गार के दरवाज़े बंद थे और दूसरी तरफ तालीम हासिल करने के रास्ते में पहाड़ों जैसी रुकावटें खड़ी कर दी गई थीं। इन दोनों चीज़ों ने मिलकर हिंदुस्तानी मुसलमानों को एक ऐसी गहरी पसमंदगी और मायूसी के दलदल में धकेल दिया, जिससे निकलने की कोई राह उन्हें दूर-दूर तक नज़र नहीं आ रही थी। यह आईन के तालीमी और तहज़ीबी हुकूक की वह खुली नज़रअंदाज़ी थी, जिसने एक पूरी क़ौम को मुल्क के तरक्की के सफर में बहुत पीछे छोड़ दिया।

सियासी हाशिए का सफर और बेगानगी का एहसास

किसी भी जम्हूरी मुल्क में अवाम की सबसे बड़ी ताक़त उनका वोट और उनकी सियासी नुमाइंदगी होती है। आज़ादी के बाद जब हिंदुस्तान ने एक गैर-मज़हबी जम्हूरियत का रास्ता चुना, तो हिंदुस्तानी मुसलमानों ने भी मुल्क की बड़ी और सेक्युलर सियासी पार्टियों पर अपना मुकम्मल एतमाद जताया। उन्होंने यह समझा कि ये सियासी पार्टियां उनके आईनी हुकूक की हिफ़ाज़त करेंगी और मुल्क की तरक्की में उन्हें बराबर का हिस्सेदार बनाएंगी। लेकिन जैसे-जैसे आज़ादी के साल गुज़रते गए, मुसलमानों का यह भरोसा एक बहुत बड़े सियासी धोखे में तब्दील होने लगा। मुल्क की सियासत में मुसलमानों की हैसियत आहिस्ता-आहिस्ता एक ऐसे मोहरे की बनकर रह गई जिसे सिर्फ़ इंतखाबात के वक़्त इस्तेमाल किया जाता था। सियासी पार्टियों ने मुसलमानों के असली मसाइल, यानी तालीम, रोज़गार और मआशी तरक्की को पूरी तरह नज़रअंदाज़ कर दिया और उन्हें सिर्फ़ एक वोट बैंक समझ कर सियासी हाशिए पर धकेल दिया।

सियासी हाशिए पर धकेले जाने का यह सफर बहुत खामोशी और चालाकी के साथ तय किया गया। जब भी इंतखाबात करीब आते, तो सियासी पार्टियां मुसलमानों के मोहल्लों में आकर खौफ़ का कारोबार करती थीं। उन्हें यह डराया जाता था कि अगर उन्होंने किसी खास सेक्युलर पार्टी को वोट नहीं दिया, तो फ़सादात कराने वाली और नफ़रत फैलाने वाली ताक़तें मुल्क पर कब्ज़ा कर लेंगी। इस खौफ़ की सियासत का सबसे बड़ा नुक़सान यह हुआ कि हिंदुस्तानी मुसलमान अपने बुनियादी हुकूक मांगना ही भूल गया। जिस क़ौम को मुल्क के खज़ाने से अपने लिए स्कूल, कॉलेज, रोज़गार और कारख़ाने मांगने चाहिए थे, वह क़ौम सिर्फ़ अपनी जान और अपनी मस्जिदों की हिफ़ाज़त की भीख़ मांगने पर मजबूर हो गई। सियासी पार्टियों ने मुसलमानों को यह एहसास दिला दिया कि उनका इस मुल्क में ज़िंदा रह लेना ही उनकी सबसे बड़ी कामयाबी है, और इसके बदले में उन्हें खामोशी के साथ अपने वोट हुक्मरानों की झोली में डाल देने चाहिए। इस सियासी साज़िश में मुसलमानों की अपनी कयादत का भी एक बहुत बड़ा अलमिया छुपा हुआ है। आज़ादी के बाद मुसलमानों में से जो भी थोड़े बहुत सियासी रहनुमा उभर कर सामने आए, वह अक्सर अपनी पार्टियों के आला कमान के मोहताज होकर रह गए।

संसद और विधानसभाओं में पहुँचने वाले ज्यादातर मुस्लिम नुमाइंदों की हैसियत ऐसी थी कि वह अपनी ही क्राँम के मसाइल पर खुलकर बोलने से कतराते थे। उन्हें यह डर रहता था कि अगर उन्होंने मुसलमानों के रोज़गार, उर्दू ज़बान या फसादात में होने वाली नाइंसाफी पर आवाज़ उठाई, तो उनकी पार्टी अगले इंतखाब में उन्हें टिकट नहीं देगी। इसका नतीजा यह निकला कि मुसलमानों की तादाद के हिसाब से उनकी नुमाइंदगी पहले ही बहुत कम थी, और जो चंद नुमाइंद मौजूद भी थे, वह खामोश तमाशाई बने रहे। क्राँम के पास ऐसे रहनुमाओं की शदीद कमी हो गई जो निडर होकर उनके हुकूक की बात कर सकें।

मुसलसल नज़रअंदाज़ी, फसादात के खौफ और सियासी धोखे ने आम हिंदुस्तानी मुसलमान के ज़हन में एक गहरी बेगानगी का एहसास पैदा कर दिया। यह बेगानगी कोई मामूली चीज़ नहीं थी। जब एक नौजवान मुसलमान यह देखता कि मुल्क के अहम फैसलों में उसका कोई हिस्सा नहीं है, जब उसे लगता कि मुल्क की तरक्की की रेलगाड़ी उसे स्टेशन पर ही छोड़कर बहुत आगे निकल चुकी है, तो उसके दिल में यह सवाल पैदा होना लाज़िमी था कि क्या वह वाकई इस मुल्क का बराबर का शहरी है? यह बेगानगी उस वक़्त और भी गहरी हो जाती जब वह देखता कि सियासी जलसों में उसके हमदर्दी के बड़े-बड़े दावे किए जाते हैं, लेकिन जब हुकूमत की पॉलिसियां बनती हैं तो उसके मोहल्ले, उसकी तालीम और उसके रोज़गार के लिए खज़ाने के दरवाज़े बंद कर दिए जाते हैं।

इस बेगानगी और सियासी हाशिए के सफर ने हिंदुस्तानी मुसलमानों को एक ऐसी गहरी नफ़्सियाती उलझन में फंसा दिया, जहां उन्हें अपनी ही ज़मीन पर एक अजनबी की तरह महसूस होने लगा। मुल्क का आईन उन्हें सीने से लगा रहा था, लेकिन मुल्क की सियासत और उसका निज़ाम उन्हें मुसलसल धक्के देकर पीछे कर रहा था। इसी कशमकश और नाइंसाफी ने आने वाले बरसों में मुसलमानों की सियासी सोच को एक नया रुख दिया, जिसकी तफ़सील और आज़ादी के बाद मुसलमानों के इस पूरे सियासी सफर को हम अपनी किताब के अगले बाब में समझेंगे।

पाँचवां बाब: आज़ादी के बाद मुसलमानों का सियासी सफर

कांग्रेस पर मुकम्मल एतमाद और शुरुआती दहाइयां

आज़ादी और तक्रसीम के खौफनाक तूफान के बाद जब मुल्क की सियासत का नया सफर शुरू हुआ, तो हिंदुस्तानी मुसलमान खुद को एक निहायत ही कमज़ोर और बेबस मकाम पर खड़ा पा रहा था। मुआशरे का वह तबका जो सियासत की समझ रखता था, जिसके पास दौलत थी और जो कयादत कर सकता था, वह एक बड़ी तादाद में हिजरत कर चुका था। जो अवाम यहां रह गई थी, उसके दिलों में सिर्फ एक ही खौफ था कि इस नए और अक्सरियती मुल्क में उनकी जान, माल और मज़हब की हिफ़ाज़त कैसे होगी। सियासत उनके लिए किसी हक़, हिस्सेदारी या मुल्क की तरक्की में शामिल होने का नाम नहीं रह गई थी, बल्कि यह महज़ ज़िंदा रहने और अपने वजूद को बचाने की एक खौफनाक जद्दोज़हद बन चुकी थी। ऐसे तारीक और मायूसी भरे माहौल में, हिंदुस्तानी मुसलमानों ने मुल्क की सबसे बड़ी और कदीम सियासी तंज़ीम, यानी कांग्रेस पार्टी की तरफ उम्मीद की नज़रों से देखना शुरू किया।

कांग्रेस उस वक़्त सिर्फ एक सियासी पार्टी नहीं थी, बल्कि मुल्क की आज़ादी की तहरीक की सबसे बड़ी अलामत थी। पंडित जवाहरलाल नेहरू और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जैसे अज़ीम रहनुमाओं की मौजूदगी ने मुसलमानों के दिलों में यह गहरा एतमाद पैदा किया कि सिर्फ यही पार्टी उन्हें फसादात की आग और नफरत की सियासत से बचा सकती है। पंडित नेहरू की गैर-मज़हबी और सेक्युलर सोच ने आम मुसलमान को यह मुकम्मल यकीन दिलाया कि कांग्रेस के साये में उनका अक़ीदा और उनकी जान महफूज़ रहेगी। इसी यकीन के तहत मुसलमानों ने यह तय कर लिया कि वह अपना सियासी मुस्तकबिल पूरी तरह कांग्रेस के हाथों में सौंप देंगे। उन्होंने अपने तमाम बुनियादी मसाइल, तालीम, रोज़गार और मुल्क के खज़ाने में अपनी हिस्सेदारी की मांगों को पीछे रख दिया और सिर्फ हिफ़ाज़त की ज़मानत के बदले अपना पूरा सियासी वजूद कांग्रेस के हवाले कर दिया।

यहीं से हिंदुस्तान की सियासत में मुसलमानों के वोट बैंक बनने का वह खामोश सिलसिला शुरू हुआ जिसने आने वाली कई दहाइयों तक मुल्क की सियासत का रुख तय किया। जब भी इंतखाबात होते, मुसलमान अवाम एक तरफा तौर पर अपना पूरा वोट कांग्रेस की झोली में डाल देती। उन्हें किसी मआशी मंसूबे, किसी तालीमी पॉलिसी या रोज़गार के वादे की ज़रूरत नहीं होती थी। उनके लिए सिर्फ इतना ही काफी था कि कांग्रेस उन्हें नफरत फैलाने वाली ताकतों से महफूज़ रखने का यकीन दिलाती थी। हुक्मरानों ने मुसलमानों की इस नफ़्सियाती कमज़ोरी और उनके खौफ को बहुत जल्दी भांप लिया। सियासी रहनुमाओं ने यह अच्छी तरह समझ लिया कि मुसलमानों का वोट हासिल करने के लिए उनके इलाकों में स्कूल, अस्पताल या कारखाने खोलने की कोई ज़रूरत नहीं है, बल्कि सिर्फ उन्हें मुसलसल खौफ में मुब्तिला रखना ही काफी है।

शुरुआती दहाइयों में मुसलमानों ने कांग्रेस पर जो आंख बंद करके भरोसा किया, उसका ज़मीनी नतीजा निहायत अफ़सोसनाक निकला। हुक्मत के ऐवानों में कांग्रेस ने मुसलमानों के थोक वोटों से बड़ी-बड़ी सरकारें तो बनाई, लेकिन अवाम की असल जिंदगी जस की तस रही। मुल्क में तरक्की के बड़े-बड़े मंसूबे बने, नए कारखाने लगे, तालीमी इदारे कायम हुए, लेकिन मुसलमानों के मोहल्ले और बस्तियां इन तमाम सरकारी सहूलियात से महरूम रहीं। जिस पार्टी को मुसलमानों ने अपना मुहाफ़िज़ समझा था, उसी के लंबे दौर-ए-हुक्मत में मुल्क के कई शहरों में बड़े-बड़े फसादात भी हुए और सरकारी नौकरियों से मुसलमानों की बेदखली का खामोश सिलसिला भी चलता रहा। मुसलमानों के जो चंद रहनुमा कांग्रेस के टिकट पर जीतकर संसद या विधानसभाओं में पहुँचते थे, वह भी अपनी क़ौम के मसाइल पर बेबाकी से आवाज़ उठाने के बजाय पार्टी के वफादार सिपाही बनकर खामोश बैठे रहते थे। उनका मक़सद सिर्फ अपनी कुर्सी बचाना रह गया था, क़ौम की नुमाइंदगी करना नहीं। यह एक बहुत बड़ा सियासी फरेब था जिसका शिकार हिंदुस्तानी मुसलमान कई दहाइयों तक होता रहा। वफादारी का जो सिला उन्हें तालीम, रोज़गार और मुल्क की तरक्की में हिस्सेदारी की शक्ल में मिलना चाहिए था, वह सिर्फ खोखले दावों और झूठी हमदर्दी की शक्ल में मिला। मुल्क का मुसलमान अपनी हिफ़ाज़त के खौफ में इतना उलझा रहा कि उसने कभी मुड़कर यह देखा ही नहीं कि जिस सियासी नाव पर वह सवार है।

वह उसे किनारे लगाने के बजाय पसमंदगी के गहरे भंवर में धकेल रही है। लेकिन कोई भी फरेब हमेशा नहीं चलता। सत्तर की दहाई आते-आते यह खामोश हकीकत आम मुसलमानों, खास तौर पर नई और तालीम याफ़ता नस्ल के ज़हन में चुभने लगी। उन्हें यह एहसास होने लगा कि मुकम्मल एतमाद और वफ़ादारी के बावजूद उनके हाथ खाली हैं और मुल्क की तरक्की में उनका कोई हिस्सा नहीं है। इसी एहसास ने हिंदुस्तानी मुसलमानों के सियासी सफर में एक नई बेचैनी को जन्म दिया, जिसने उन्हें नए सियासी ठिकानों की तलाश पर मजबूर कर दिया।

मोहभंग का दौर और नए सियासी ठिकानों की तलाश

साठ और सत्तर की दहाई तक आते-आते हिंदुस्तान का सियासी मंज़रनामा धीरे-धीरे तब्दील होने लगा था। जो नस्ल तक्रसीम के खौफनाक दौर में पैदा हुई थी या जिसने आज़ादी के बाद इस मुल्क में आंखें खोली थीं, अब वह जवान हो रही थी। इस नई तालीम याफ़ता नस्ल के ज़हन में अपने आबा-ओ-अजदाद जैसा खौफ और सहम नहीं था। यह वह नौजवान थे जिन्होंने मुल्क के आईन को पढ़ा था, जम्हूरियत की ताक़त को समझा था और जो इस मुल्क को अपना पैदाइशी हक़ मानते थे। जब इस नई नस्ल ने अपने अतराफ में नज़र दौड़ाई, तो उन्हें एक निहायत ही खौफनाक हकीकत का सामना करना पड़ा। उन्होंने देखा कि मुसलसल एक ही सियासी जमात को अपना मुकम्मल वोट देने के बावजूद, उनके मोहल्लों में न तो कोई नया स्कूल खुला है, न ही उनके नौजवानों को सरकारी नौकरियां मिली हैं और न ही उनके कारोबार महफूज़ रहे हैं। इस हकीकत ने उनके ज़हनों में सवालात का एक ऐसा सैलाब खड़ा कर दिया जिसने कई दहाइयों की सियासी खामोशी को तोड़ कर रख दिया। मुसलमानों का यह मोहभंग कोई रातों-रात होने वाला वाकया नहीं था, बल्कि यह मुसलसल नाइंसाफियों और टूटते हुए वादों का नतीजा था। सबसे बड़ी चोट उस भरोसे पर लगी जो मुसलमानों ने अपनी हिफ़ाज़त के लिए हुक्मरान जमात पर किया था। अस्सी की दहाई में मुरादाबाद, नेल्ली, भिवंडी, मेरठ और मलियाना जैसे दिल दहला देने वाले फसादात ने इस खौफनाक सच को बेनकाब कर दिया कि जिस हिफ़ाज़त की ज़मानत पर मुल्क का मुसलमान अपना सब कुछ कुरबान कर रहा था, वह हिफ़ाज़त महज़ एक सियासी फरेब थी। जिन रियासतों में अवाम ने मुकम्मल तौर पर एक ही पार्टी की सरकारें बनाई थीं, वहीं मुसलमानों के खून से होली खेली जा रही थी और हुकूमती निज़ाम खामोश तमाशाई बना हुआ था।

पुलिस और हिफाज़ती दस्तों का तास्सुब अवाम के सामने पूरी तरह खुलकर आ चुका था। इन वाकयात ने आम मुसलमान को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि अगर वोट देने के बाद भी उनकी जान और माल महफूज़ नहीं हैं, तो फिर इस सियासी वफादारी का क्या फायदा?

इसी बेचैनी और मायूसी के बीच मुसलमानों ने अपने वोट की असली ताक़त को पहचानना शुरू किया। उन्हें यह एहसास हुआ कि जम्हूरियत में कोई भी सियासी पार्टी अवाम की जागीरदार नहीं होती। अगर कोई पार्टी हुकूक नहीं दे सकती, तो अवाम को भी किसी एक पार्टी का गुलाम बनकर रहने की ज़रूरत नहीं है। इसी सोच ने हिंदुस्तानी मुसलमानों को नए सियासी ठिकानों की तलाश पर मजबूर किया। उन्होंने मरकज़ी सियासत से अपनी उम्मीदें हटाकर मुकामी और रियासती सियासी जमातों की तरफ देखना शुरू किया। यह वह दौर था जब मुल्क के मुख्तलिफ हिस्सों में दबे-कुचले और पिछड़े तबकात भी अपने हुकूक के लिए बेदार हो रहे थे। मुसलमानों ने महसूस किया कि उनके मसाइल और इन दबे-कुचले तबकात के मसाइल बहुत हद तक एक जैसे हैं। इस नई सियासी बेदारी ने मुसलमानों को मुकामी सतह पर नए इत्तेहाद बनाने का रास्ता दिखाया। खास तौर पर उत्तर प्रदेश और बिहार जैसी बड़ी रियासतों में, जहां मुसलमानों की तादाद किसी भी चुनाव का रुख मोड़ने की ताक़त रखती थी, वहां उन्होंने अपनी सियासी अहमियत का इस्तेमाल करना शुरू किया। अब मुसलमान सिर्फ खौफ के साये में आंख बंद करके वोट नहीं दे रहा था, बल्कि वह सौदेबाज़ी की हैसियत में आने की कोशिश कर रहा था। वह उन मुकामी रहनुमाओं की तरफ मुतवज्जेह हुआ जो उनके बीच से उठते थे, जो उनके मसाइल पर बेबाकी से बात करते थे और जो मरकज़ी हुकूमत के तास्सुब को चुनौती देने की हिम्मत रखते थे। यह सियासी सफर का वह नाज़ुक मोड़ था जहाँ मुसलमानों ने किसी एक पार्टी की पक्की जागीर होने का ठप्पा अपने ऊपर से उतार फेंकने का फैसला कर लिया था। मोहभंग के इस दौर ने एक बात तो पूरी तरह साबित कर दी थी कि सिर्फ़ मीठी बातों और गैर-मज़हबी होने का दावा करने वाली सियासत से पेट नहीं भरता और न ही मुस्तकबिल संवरता है। मुसलमानों को अब ऐसे रहनुमाओं की तलाश थी जो सिर्फ़ उनके खून के आंसू न पोंछें, बल्कि उनके हाथों में कलम और रोज़गार भी थमाएं। नए सियासी ठिकानों की यह तलाश जम्हूरियत में उनकी सियासी समझदारी के बढ़ने की अलामत थी।

लेकिन यह सफर भी कोई आसान नहीं था। आगे चलकर उन्हें जिन मुकामी सियासी पार्टियों ने सहारा दिया, उनके इरादे भी कितने साफ थे और उन्होंने मुसलमानों को क्या दिया, यह एक अलग और लंबी दास्तान है। इस दास्तान का सबसे बड़ा और खौफनाक मोड़ नब्बे की दहाई में आया, जिसने मुल्क की सियासत की पूरी बिसात ही पलट कर रख दी।

बाबरी मस्जिद का अलमिया और सियासी तब्दीली

हिंदुस्तान की तारीख और मुसलमानों के सियासी सफर में कुछ वाकयात ऐसे हैं जिन्हें महज़ ज़ख्म कहा जाए तो कम होगा, वे एक ऐसा नासूर बन चुके हैं जिसकी टीस आज भी महसूस की जाती है। अस्सी और नब्बे की दहाई में मुल्क की सियासत ने एक निहायत ही खतरनाक और नफरत से भरा हुआ मोड़ लिया। जब मुकामी और रियासती सतह पर दबे-कुचले अवाम अपने हुकूक के लिए बेदार हो रहे थे, तो उस अवामी बेदारी को कुचलने और मुल्क को मज़हब के नाम पर बांटने के लिए बाबरी मस्जिद के मसले को एक बड़े सियासी हथियार के तौर पर इस्तेमाल किया गया। पूरे मुल्क में एक ऐसी ज़हरीली आंधी चलाई गई जिसका मक़सद सिर्फ और सिर्फ अकलियतों, खास तौर पर मुसलमानों के दिलों में खौफ पैदा करना और अक्सरियत के जज़्बात को भड़का कर हुकूमत की कुर्सियों पर कब्ज़ा करना था। नफरत के इस खौफनाक माहौल में भी हिंदुस्तानी मुसलमानों ने मुल्क के कानून, उसकी सबसे बड़ी अदालत और मरकज़ी हुकूमत पर अपना भरोसा कायम रखा। उन्हें यह मुकम्मल यकीन था कि मुल्क का आईन और हुकूमत किसी भी कीमत पर उनकी इस तारीखी इबादतगाह को नुकसान नहीं पहुँचने देंगे। लेकिन छह दिसंबर उन्नीस सौ बानवे का वह सियाह दिन हिंदुस्तानी मुसलमानों की तारीख का सबसे दर्दनाक और खौफनाक दिन साबित हुआ। उस दिन अयोध्या में सिर्फ बाबरी मस्जिद की ईंटें नहीं गिरी थीं, बल्कि मुल्क के आईन, उसके गैर-मज़हबी निज़ाम और मुसलमानों के उस अटूट भरोसे की इमारत भी ज़मींदोज़ हो गई थी जो उन्होंने आज़ादी के बाद इस मुल्क की सियासत पर किया था। दिन के उजाले में, पूरी दुनिया की नज़रों के सामने एक तारीखी मस्जिद को मुनहदिम कर दिया गया और रियासत का पूरा हिफ़ाज़ती निज़ाम खामोश तमाशाई बना रहा। मुसलमानों के लिए सबसे बड़ा और जानलेवा अलमिया यह था कि उस वक़्त मरकज़ में उसी सियासी जमात की हुकूमत थी जिसे उन्होंने अपना सबसे बड़ा मुहाफ़िज़ समझ कर दशकों तक अपने मुकम्मल वोट दिए थे।

मरकज़ी हुकूमत की इस मुजरिमाना खामोशी और नाकामी ने मुसलमानों के दिलों को चीर कर रख दिया। उन्हें यह एहसास हो गया कि जब बात उनके मज़हब, उनकी पहचान और उनके वकार की आती है, तो मुल्क की कोई भी बड़ी सियासी जमात उनके साथ खड़े होने की हिम्मत नहीं रखती।

इस शहादत के फौरन बाद मुल्क भर में जो फसादात भड़के, उन्होंने मुसलमानों की जान-ओ-माल को एक बार फिर उसी तरह तबाह कर दिया जैसे तक्रसीम के वक़्त हुआ था। बस्तियों की बस्तियां जला दी गईं और हज़ारों मासूमों का खून बहाया गया। इन फसादात ने मुसलमानों की नफ़्सियात पर एक ऐसा गहरा असर डाला जिसने उनके सियासी सोचने के अंदाज़ को हमेशा के लिए बदल कर रख दिया। वह बेचैनी और मायूसी जो सत्तर और अस्सी की दहाई से उनके दिलों में पल रही थी, अब एक शदीद गुस्से और मुकम्मल बेगानगी में तब्दील हो चुकी थी। जिस कदीम सियासी जमात को वह अपनी हिफ़ाज़त की आखिरी उम्मीद समझते थे, उससे उनका भरोसा पूरी तरह और हमेशा के लिए उठ गया। मुसलमानों ने यह कड़वा सच कुबूल कर लिया कि मुल्क की मरकज़ी सियासत में वह पूरी तरह यतीम हो चुके हैं और सियासी बाज़ारों में उनके जज़्बात की कोई कीमत नहीं है।

इस अज़ीम अलमिए ने मुल्क की सियासत की पूरी बिसात को पलट कर रख दिया। मुसलमानों ने मरकज़ी हुकूमत और पुरानी सियासी जमातों से अपनी तमाम उम्मीदें खत्म कर लीं और एक नई सियासी पनाह की तलाश में निकल पड़े। उन्होंने यह तय कर लिया कि अब वह खौफ के नाम पर किसी एक बड़ी जमात की जागीर बनकर नहीं रहेंगे। यह वह दौर था जब मुल्क की सियासत में रियासती और मुकामी रहनुमाओं का उभार हो रहा था, जो दबे-कुचले और पिछड़े तबकात की आवाज़ बन रहे थे। मुसलमानों ने अपनी हिफ़ाज़त और अपने सियासी वजूद को बचाने के लिए इन नए मुकामी रहनुमाओं से हाथ मिलाना शुरू किया। बाबरी मस्जिद के ज़ख्म ने हिंदुस्तानी मुसलमानों को एक ऐसी नई सियासी राह पर डाल दिया, जिसने आने वाली कई दहाइयों तक रियासती सियासत का चेहरा तय किया। लेकिन क्या इन नए सियासी ठिकानों ने मुसलमानों के असल मसाइल हल किए? यह एक निहायत अहम सवाल है जिसका जायज़ा लेना इस सियासी सफर को समझने के लिए बेहद ज़रूरी है।

रियासती पार्टियों का उभार और गैर-मज़हबी सियासत का फरेब

नब्बे की दहाई में मरकज़ी सियासत से मायूस होने के बाद, हिंदुस्तानी मुसलमानों ने मुकामी और रियासती रहनुमाओं के आंचल में पनाह लेना शुरू कर दिया। यह वह दौर था जब मुल्क की सियासत में खुद को गैर-मज़हबी और दबे-कुचले तबकात का मसीहा कहने वाले नए चेहरों का ज़बरदस्त उभार हो रहा था। इन रहनुमाओं ने मुसलमानों के दिलों में बैठे हुए उस शदीद खौफ को बहुत बारीकी से भांप लिया था जो बाबरी मस्जिद के अलमिए और मुसलसल होने वाले फसादात की वजह से पैदा हुआ था। उन्होंने मुसलमानों को यह यकीन दिलाया कि अगर वे उनके साथ खड़े होंगे, तो कोई भी नफरत फैलाने वाली ताकत उनका बाल भी बांका नहीं कर सकेगी। अपनी जान और अपनी मस्जिदों की हिफाज़त की आस में, मुसलमानों ने इन मुकामी रहनुमाओं को अपना मुहाफिज़ मान लिया और अपनी पूरी सियासी ताकत इनके हवाले कर दी। उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव और बिहार में लालू प्रसाद यादव मुसलमानों के लिए सबसे बड़े और निडर रहनुमा बनकर उभरे। मुलायम सिंह यादव ने बाबरी मस्जिद के तहफ़फ़ुज़ और मुसलमानों की हिफाज़त के लिए जो सख्त फैसले लिए, उसने उन्हें मुसलमानों का सबसे बड़ा हमदर्द बना दिया। मुसलमान अवाम ने उन्हें अपना सच्चा रहनुमा मानकर आंख बंद करके अपने वोट उनकी झोली में डाल दिए। इसी तरह बिहार में लालू प्रसाद यादव ने नफरत की रथ यात्रा को रोककर मुसलमानों के दिलों में एक गहरा एतमाद और भरोसा पैदा किया। इन दोनों रहनुमाओं ने मुसलमानों को यह एहसास दिलाया कि रियासती हुकूमत उनके साथ चट्टान की तरह खड़ी है। दूसरी तरफ, उत्तर प्रदेश में ही मायावती ने दलित और मुस्लिम इत्तेहाद का एक नया सियासी तजुर्बा किया। मुसलमानों ने इस उम्मीद के साथ उनकी जमात को भी अपने मुकम्मल वोट दिए कि जब मुआशरे के दबे-कुचले और पिछड़े तबकात मिल जाएंगे, तो उनकी भी आवाज़ हुकूमत के ऐवानों में गूंजेगी और नाइंसाफी का खात्मा होगा। इसी दौर में मगरीबी उत्तर प्रदेश के अंदर चौधरी अजित सिंह ने भी एक बड़ा और अहम सियासी मकाम हासिल किया। उन्होंने किसानों की तहरीक और जाट-मुस्लिम इत्तेहाद की अपनी पुरानी रिवायतों का वास्ता देकर मुसलमानों का भरोसा जीता। मगरीबी उत्तर प्रदेश के मुसलमानों ने अपनी ज़मीनी हकीकतों, किसानी मसाइल और पुराने भाईचारे को सामने रखते हुए चौधरी अजित सिंह की कयादत पर पूरा ऐतबार किया।

मुसलमानों ने अपनी ताकत से इन तमाम रहनुमाओं को हुकूमत की सबसे बड़ी कुर्सियों तक पहुँचाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। लेकिन जैसे-जैसे वक्त गुज़रा, इस गैर-मज़हबी सियासत का सबसे बड़ा और कड़वा फरेब पूरी तरह खुलकर अवाम के सामने आने लगा। इन तमाम रियासती रहनुमाओं ने मुसलमानों से उनके मुकम्मल वोट तो लिए, उन्हें फसादात से महफूज़ रखने के जज़्बाती नारे भी दिए, लेकिन जब बात तालीम, रोज़गार, और मुल्क के खज़ाने में हिस्सेदारी की आई, तो इन सबके दरवाज़े मुसलमानों के लिए बंद ही रहे। मुसलमानों की हैसियत सियासत के बिसात पर सिर्फ़ एक ऐसे मोहरे की रह गई जिसका वाहिद काम मुल्क की नफरत पसंद ताकतों को चुनाव में हराना था। मुसलमानों ने अपना वोट अपने बच्चों के मुस्तकबिल, उनके स्कूलों, और उनके रोज़गार के लिए नहीं, बल्कि सिर्फ़ और सिर्फ़ दूसरों को हराने के लिए इस्तेमाल करना शुरू कर दिया।

सियासी रहनुमाओं ने बड़ी चालाकी से मुसलमानों को सिर्फ़ उनके ज़िंदा रहने की ज़मानत दी, लेकिन इज़्ज़त के साथ जीने का हक़ कभी नहीं दिया। चाहे मुलायम सिंह यादव का दौर हो, लालू प्रसाद यादव का निज़ाम हो, मायावती की हुकूमत हो या चौधरी अजित सिंह का सियासी इत्तेहाद हो, इन सभी के मज़बूत दौर में भी मुसलमानों की तालीमी और मआशी पसमंदगी जस की तस रही। सच्चर कमेटी जैसी कई सरकारी तहकीकात ने इस हकीकत को बेनकाब कर दिया कि गैर-मज़हबी सियासत के इस सुनहरे दौर में भी मुसलमान सरकारी नौकरियों और तालीम के मैदान में मुसलसल पिछड़ता चला गया। यह हिफाज़त के नाम पर किया गया एक ऐसा खौफनाक सियासी फरेब था, जिसने मुसलमानों को अपना कोई आज़ाद सियासी मकाम बनाने ही नहीं दिया। उन्हें मुसलसल दूसरों का मोहताज बनाए रखा गया, ताकि वह हमेशा खौफज़दा रहें और इन रहनुमाओं के पीछे-पीछे चलते रहें।

मुसलमान कयादत का बोहरान और खुद-मुख्तारी की जद्दोजहद

सियासत के इस तवील और थका देने वाले सफर का सबसे बड़ा और तकलीफदेह अलमिया यह है कि करोड़ों की आबादी होने के बावजूद, हिंदुस्तानी मुसलमानों की अपनी कोई आज़ाद, मज़बूत और मुकम्मल कयादत उभर कर सामने नहीं आ सकी। तक्रसीम के खौफनाक ज़ख्मों और मुसलसल होने वाले फसादात ने आम मुसलमान की नप्सियात को इतना कमज़ोर कर दिया था कि उसने अपने दरमियान से कोई रहनुमा पैदा करने के बजाय, हमेशा दूसरों के आंचल में अपना मसीहा तलाश किया। जब कोई क़ौम अपने हुकूक की लड़ाई लड़ने के लिए मुकम्मल तौर पर दूसरों की मोहताज हो जाती है, तो उसकी हैसियत सियासत के बाज़ार में सिर्फ एक अंधी और गूंगी भीड़ की रह जाती है। हिंदुस्तानी मुसलमानों के साथ बिल्कुल यही हुआ। उन्होंने दूसरों को हुक्मरान बनाने में तो अपना पूरा ज़ोर लगा दिया, लेकिन खुद अपने लिए कोई ऐसा रहनुमा नहीं चुन सके जो मुल्क के ऐवानों में उनकी आंखों में आंखें डालकर बात कर सके। मुसलमानों के अंदर जो चंद तंज़ीमें या इत्तेहाद बने भी, उनका दायरा निहायत महदूद और जज़्बाती मसाइल तक सिमट कर रह गया। मुकामी सतह पर उभरने वाले रहनुमाओं ने अवाम की तालीम, उनकी मआशी तरक्की और उनके रोज़गार को कभी अपना असल मुद्दा नहीं बनाया। इसके बजाय, उन्होंने अपनी पूरी सियासी ताकत सिर्फ मज़हबी कवानीन, मस्जिदों के तहफ़फ़ुज़ और वक्फ की जायदादों जैसे जज़्बाती मसाइल पर खर्च कर दी। यह बात बिल्कुल दुरुस्त है कि एक मुसलमान के लिए उसका अक़्रीदा और उसके मज़हबी हुकूक जान से भी ज़्यादा अज़ीज़ होते हैं, लेकिन किसी भी क़ौम की तरक्की सिर्फ जज़्बाती नारों से नहीं होती। जब तक क़ौम के बच्चों के हाथों में आला तालीम और रोज़गार नहीं होगा, तब तक वह दुनिया का मुकाबला नहीं कर सकते। कयादत के इस नज़रियाती बोहरान ने मुसलमानों को तालीम और जदीद तरक्की से बहुत दूर रखा। दूसरी तरफ, मुल्क की बड़ी और गैर-मज़हबी सियासी जमातों ने जान-बूझकर मुसलमानों के अंदर कोई मज़बूत कयादत पैदा नहीं होने दी। इन जमातों ने मुसलमानों में से सिर्फ ऐसे लोगों को अपना नुमाइंदा बनाया जो आला कमान के वफादार और खामोश रहने वाले थे। संसद और विधानसभाओं में बैठे हुए इन दिखावे के नुमाइंदों की हैसियत महज़ कठपुतलियों जैसी रह गई। वह अपनी ही क़ौम के असल मसाइल पर बेबाकी से आवाज़ उठाने से खौफ खाते थे।

उन्हें हर वक्त यह डर सताता रहता था कि अगर उन्होंने मुसलमानों के हक में कोई मज़बूत बात कही, तो उनकी जमात उन्हें बाहर का रास्ता दिखा देगी और उनका सियासी मुस्तकबिल खत्म हो जाएगा। अपनी कुर्सियां बचाने की इस जद्दोजहद में इन मुस्लिम नुमाइंदों ने अपनी ही क़ौम की पीठ में खंजर घोंपने का काम किया। अवाम सड़क पर अपने हुकूक के लिए तड़पती रही, और उनके अपने नुमाइंदे हुकूमत के ऐवानों में खामोश तमाशाई बने रहे। लेकिन हर अंधेरी रात की एक सुबह होती है। आज हिंदुस्तान का तालीम याफ़्ता नौजवान मुसलमान इस पूरे सियासी फरेब और कयादत के इस बोहरान को बहुत अच्छी तरह समझ चुका है। नई नस्ल ने यह फैसला कर लिया है कि अब वह खौफ के साये में नहीं जिएगी और न ही किसी को सिर्फ हिफाज़त के नाम पर अपना वोट देगी। आज का नौजवान जज़्बाती नारों के बजाय आईन की किताब हाथ में लेकर अपने बराबर के हुकूक, अपनी तालीम और अपने रोज़गार की बात कर रहा है। वह समझ चुका है कि जब तक मुसलमानों की अपनी खुद-मुख्तार सियासी आवाज़ नहीं होगी, तब तक मुल्क की कोई भी जमात उनके साथ इंसाफ नहीं करेगी।

यह खुद-मुख्तारी की जद्दोजहद आसान नहीं है। इसमें अपनों की मुखालफत भी है और गैरों की साज़िशें भी। लेकिन यह सफर अब शुरू हो चुका है। हिंदुस्तानी मुसलमान अब महज़ एक वोट बैंक का ठप्पा मिटाकर, मुल्क की सियासत में हिस्सेदार बनने और अपने बलबूते पर अपनी तकदीर लिखने की तरफ कदम बढ़ा रहा है। सियासत के इस कड़वे और फरेब भरे सफर के बाद, यह देखना निहायत ज़रूरी है कि मआशी और सामाजी सतह पर यह क़ौम कहां खड़ी है और सरकारी रिपोर्टों ने इस पसमंदगी का क्या खाका खींचा है।

छठा बाब: सियासी नुमाइंदगी: मुल्क के ऐवानों और रियासती मजलिसों में मुसलमानों की गिरती हुई तादाद और इसके अस्बाब

नुमाइंदगी का आईना और गिरती हुई तादाद का सफर

दुनिया की किसी भी जम्हूरियत की असल कामयाबी और उसकी खूबसूरती इस बात में छुपी होती है कि मुल्क के कानून बनाने वाले ऐवानों में अवाम के हर तबके की नुमाइंदगी कितनी है। जब मुल्क की सबसे बड़ी पंचायत में फैसले लिए जाते हैं, तो यह देखना निहायत ज़रूरी होता है कि जिन लोगों के मुस्तकबिल का फैसला किया जा रहा है, क्या उनकी आवाज़ वहां मौजूद है? हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए यह सवाल एक बहुत बड़े अलमिए और दर्दनाक हकीकत की शक्ल इख्तियार कर चुका है। आज़ादी के बाद से लेकर आज तक, अगर हम मुल्क के बड़े ऐवानों और रियासती कानून साज़ मजलिसों का आईना उठाकर देखें, तो उसमें हिंदुस्तानी मुसलमान का चेहरा आहिस्ता-आहिस्ता धुंधला होता हुआ और फिर मुकम्मल तौर पर गायब होता हुआ नज़र आता है। करोड़ों की आबादी वाली यह क़ौम मुल्क के सियासी नक्शे पर तो मौजूद है, लेकिन जब बात ताकत और हुक्मरानी के ऐवानों की आती है, तो वहां उनकी कुर्सियां मुसलसल खाली होती जा रही हैं। आज़ादी के फौरन बाद के शुरुआती इंतखाबात पर अगर हम नज़र दौड़ाएं, तो हालात इतने मायूसकुन नहीं थे। तक्रसीम के ज़ख्मों के बावजूद, मुल्क के पहले और दूसरे आम इंतखाबात में मुसलमानों ने एक अच्छी खासी तादाद में मुल्क के बड़े ऐवानों तक रसाई हासिल की थी। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और रफी अहमद किदवई जैसे बड़े रहनुमाओं की मौजूदगी ने मुसलमानों को यह एहसास दिलाए रखा कि मुल्क की तामीर में उनका भी बराबर का हिस्सा है। हालांकि उस वक़्त भी मुसलमानों की नुमाइंदगी उनकी आबादी के तनासुब (अनुपात) से कम थी, लेकिन ऐवानों में उनकी आवाज़ को सुना जाता था और उनकी अहमियत को तस्लीम किया जाता था। मुसलमानों को यह उम्मीद थी कि जैसे-जैसे मुल्क की जम्हूरियत पुख्ता होगी, उनकी तालीमी और सामाजी हालत बेहतर होगी, वैसे-वैसे हुकूमत के ऐवानों में भी उनके नुमाइंदों की तादाद में इज़ाफा होगा। लेकिन तारीख ने उनके इस ख्वाब को निहायत बेरहमी के साथ चकनाचूर कर दिया।

सत्तर और अस्सी की दहाई तक आते-आते यह तस्वीर मुकम्मल तौर पर बदलने लगी। जम्हूरियत का यह एक सीधा उसूल है कि अगर कोई क्रौम मुल्क की आबादी का पंद्रह या सोलह फीसद हिस्सा है, तो कानून साज़ मजलिसों में भी उसकी नुमाइंदगी कम से कम उसी तनासुब के आस-पास होनी चाहिए। लेकिन हिंदुस्तानी मुसलमानों के साथ हकीकत इसके बिल्कुल बरअक्स रही। आबादी मुसलसल बढ़ती रही, लेकिन ऐवानों में नुमाइंदों की तादाद मुसलसल गिरती रही। एक वक़्त ऐसा आया जब मुल्क की सबसे बड़ी कानून साज़ मजलिस में मुसलमानों की नुमाइंदगी गिरकर चार या पांच फीसद तक रह गई। कई बड़ी रियासतें जहां मुसलमानों की एक बहुत घनी और अहम आबादी बसती है, वहां से उनके कामयाब उम्मीदवारों की तादाद उंगलियों पर गिनी जाने लगी। कुछ रियासतों में तो यह तादाद सिर्फ तक पहुँच गई, यानी करोड़ों की आबादी का कोई एक नुमाइंदा भी ऐवान तक नहीं पहुँच सका। गिरती हुई नुमाइंदगी का यह सफर सिर्फ हार और जीत का मसला नहीं था, बल्कि यह एक खामोश सियासी साज़िश का नतीजा था जिसने मुसलमानों को मुल्क की असल ताकत से बेदखल कर दिया।

नब्बे की दहाई के बाद जब मुल्क की सियासत में नफरत और मज़हबी ध्रुवीकरण का ज़हर पूरी तरह फैल गया, तो मुसलमानों के लिए इंतखाबी मैदान में उतर कर जीत हासिल करना एक ना-मुमकिन सा ख्वाब बन गया। ऐवानों के अंदर से वह चेहरे, वह नाम और वह लिबास गायब होने लगे जो इस मुल्क की अज़ीम अकलियत की नुमाइंदगी करते थे। जब बड़े ऐवानों में मुसलमानों के रोज़गार, उनकी तालीम, उनके मदरसों या उनकी हिफाज़त पर बहस होती, तो वहां उनके दर्द को बयान करने वाला कोई मौजूद नहीं होता था। वह क्रौम जिसके बुजुर्गों ने इस मुल्क की आज़ादी के लिए अपनी गर्दन कटवाई थीं, वह अपने ही मुल्क के ऐवानों में एक सियासी यतीम की तरह बाहर खड़ी रह गई। नुमाइंदगी की इस मुसलसल कमी ने आम मुसलमान की नफ़्सियात पर एक निहायत ही गहरा और मनफी असर डाला है। जब एक नौजवान मुसलमान यह देखता है कि मुल्क के फैसले करने वाले कमरों में उसके मुआशरे का कोई इंसान नहीं बैठा, तो उसे यह मुल्क और इसका निज़ाम अपना सा नहीं लगता। यह बेगानगी और सियासी यतीमपन मुल्क की जम्हूरियत के लिए भी एक बहुत बड़ा सवालिया निशान है। आखिर ऐसा क्यों हुआ कि एक इतनी बड़ी आबादी मुल्क की सियासत में सिर्फ वोट डालने वाली मशीन बनकर रह गई और कानून बनाने वाली कुर्सियों से उसे बाहर फेंक दिया गया?

इस गिरती हुई तादाद के पीछे सियासी जमातों का वह कौन सा तास्सुब और वह कौन सा फरेब है जिसने मुसलमानों को इस मुकाम तक पहुँचाया, इसका जायज़ा लेना हमारे लिए बेहद ज़रूरी है।

सियासी जमातों का रवैया और इंतखाबी नुमाइंदगी का फरेब

मुल्क के ऐवानों में मुसलमानों की तादाद कम होने की सबसे बड़ी और अहम वजह खुद को गैर-मज़हबी कहने वाली उन सियासी जमातों का रवैया है, जिन पर मुसलमानों ने अपनी हिफाज़त का सबसे ज़्यादा भरोसा किया था। जम्हूरियत में किसी भी तबके की नुमाइंदगी इस बात पर मुनहसिर होती है कि बड़ी और जीतने वाली सियासी जमातें उस तबके के कितने लोगों को इंतखाबी मैदान में अपना उम्मीदवार बनाती हैं। शुरुआती दहाइयों में सियासी जमातों ने मुसलमानों को नुमाइंदगी देने का कुछ भरम ज़रूर कायम रखा था, लेकिन जैसे-जैसे सियासत में नफरत और अक्सरियत परस्ती का ज़हर घुलने लगा, इन जमातों ने मुसलमानों से इंतखाबी नुमाइंदगी का हक़ खामोशी के साथ छीनना शुरू कर दिया।

नब्बे की दहाई के बाद मुल्क का सियासी मिज़ाज इतनी तेज़ी से बदला कि खुद को मुसलमानों का हमदर्द कहने वाली पार्टियां भी उन्हें अपना उम्मीदवार बनाने से कतराने लगीं। इन जमातों के ज़हन में यह खौफ बैठ गया कि अगर उन्होंने किसी मुसलमान को इंतखाबी मैदान में उतारा, तो मुल्क की अक्सरियत के वोट छिटक कर उन नफरत फैलाने वाली जमातों की तरफ चले जाएंगे जो खुलेआम मज़हब की सियासत करती हैं। अक्सरियत के वोटों को खुश करने और अपने गैर-मज़हबी होने का दिखावा बरकरार रखने के लिए, इन पार्टियों ने मुसलमानों को सियासी मैदान से बाहर कर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि एक आम मुसलमान सिर्फ एक ऐसा वोटर बनकर रह गया जिसकी ज़िम्मेदारी दूसरी जमातों को चुनाव जिताना तो थी, लेकिन उसे खुद चुनाव लड़कर ऐवान तक पहुँचने का कोई हक़ नहीं था। सियासी जमातों का यह फरेब सिर्फ उम्मीदवारों को रोकने तक महदूद नहीं रहा, बल्कि उन्होंने मुसलमानों की नुमाइंदगी को सिर्फ उन चंद इलाकों तक समेट दिया जहां मुसलमानों की आबादी साठ या सत्तर फीसद से ज़्यादा थी।

अगर कोई मुसलमान किसी ऐसे हलके से चुनाव लड़ना चाहता जहां मिली-जुली आबादी हो और जहां वह अपनी काबिलियत के दम पर अवाम का दिल जीत सके, तो उसे कभी उम्मीदवार नहीं बनाया जाता। सियासी जमातों ने यह गैर-ऐलानिया उसूल बना लिया कि मुसलमान सिर्फ मुसलमानों की घनी आबादी वाले हलकों से ही जीत सकता है। इस ज़ह्नियत ने मुसलमानों को मुल्क की आम सियासत से काटकर एक खास दायरे में कैद कर दिया और उनकी सलाहियतों का गला घोट दिया। यह एक निहायत ही दर्दनाक हकीकत है कि जिन सियासी जमातों ने मुसलमानों के मुकम्मल वोटों के दम पर हुकूमतें बनाईं, उन्होंने भी मुसलमानों को ताकत के ऐवानों से दूर रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। मुसलमानों को मुसलसल यह पट्टी पढ़ाई गई कि इस नाज़ुक दौर में उनका चुनाव लड़ना या जीतना ज़रूरी नहीं है, बल्कि फलां जमात को हराना ज़्यादा ज़रूरी है। मुसलमानों के वोट को खौफ के नाम पर इस कदर बंधक बना लिया गया कि वे अपने लिए कोई नुमाइंदगी मांग ही नहीं सके। सियासी पार्टियों के आला कमान वाले कमरों में मुसलमानों के मसाइल पर हमदर्दी तो बहुत जताई जाती, लेकिन जब उम्मीदवारों की फेहरिस्त बनती, तो उसमें से मुसलमानों के नाम बड़ी चालाकी से गायब कर दिए जाते। इस दोहरे रवैये और गैर-मज़हबी सियासत के इस कड़वे फरेब ने मुल्क के ऐवानों में मुसलमानों की तादाद को उस मुकाम पर पहुँचा दिया, जहां उनकी आवाज़ मुकम्मल तौर पर खामोश हो गई।

इंतखाबी हल्कों की हदबंदी और सियासी साज़िश

जम्हूरियत में अवाम की नुमाइंदगी तय करने के लिए इंतखाबी हल्कों की हदबंदी एक निहायत अहम कानूनी अमल है। इसका बुनियादी मकसद यह होता है कि आबादी के तनासुब से हर हलके में अवाम की नुमाइंदगी बराबर रहे। लेकिन हिंदुस्तानी मुसलमानों के सियासी सफर में यह हदबंदी एक ऐसे खामोश और खतरनाक सियासी हथियार के तौर पर इस्तेमाल की गई, जिसने उनकी नुमाइंदगी की जड़ों को मुकम्मल तौर पर खोखला कर दिया। जब भी हदबंदी के लिए सरकारी कमीशन बैठे, तो अक्सर ऐसे फैसले लिए गए जिनका सीधा नुकसान मुसलमानों की सियासी ताकत को हुआ। यह कोई इत्तेफाक नहीं था बल्कि एक सोची-समझी सियासी साज़िश थी जिसके तहत मुसलमानों के घनी आबादी वाले इलाकों को इस चालाकी से बांटा गया कि वह किसी भी एक हलके में जीत हासिल करने की हैसियत में न रहें।

इस साज़िश का सबसे पहला तरीका मुसलमानों की आबादी को बिखेरना था। ऐसे इलाके या शहर जहां मुसलमानों की तादाद इतनी थी कि वह आसानी से अपना नुमाइंदा चुन सकते थे, उन्हें हदबंदी के नाम पर निहायत बेरहमी से दो या तीन अलग-अलग इंतखाबी हल्कों में बांट दिया गया। इसका नतीजा यह निकला कि जो आबादी एक जगह मिलकर एक बड़ी सियासी ताकत बन सकती थी, वह अलग-अलग हल्कों में बंटकर सिर्फ एक छोटी सी अकलियत बनकर रह गई। सियासत के इस खेल ने मुसलमानों के वोट बैंक को इस तरह कमज़ोर कर दिया कि उनके वोट किसी और की हार-जीत का फैसला तो कर सकते थे, लेकिन वह कभी अपना खुद का नुमाइंदा जिताने के काबिल नहीं रहे। यह एक ऐसा खामोश जुल्म था जो कानूनी कागज़ात और सरकारी नक्शों की आड़ में किया गया, लेकिन इसका ज़ख्म मुसलमानों की सियासी नुमाइंदगी ने बहुत गहराई तक महसूस किया। हदबंदी की इस साज़िश का दूसरा और सबसे खौफनाक पहलू इंतखाबी हल्कों को महफूज़ करार देना था।

मुल्क के कानून ने दबे-कुचले और पिछड़े तबकात की नुमाइंदगी यकीनी बनाने के लिए उनके वास्ते सीटें महफूज़ करने का निहायत उम्दा उसूल बनाया था। लेकिन इस उसूल का इस्तेमाल मुसलमानों की नुमाइंदगी को कुचलने के लिए किया गया। कई सरकारी रिपोर्टों ने इस हकीकत को पूरी तरह बेनकाब किया है कि मुल्क भर में ऐसे कई इंतखाबी हलके जहां मुसलमानों की आबादी सबसे ज़्यादा थी, उन्हें चालाकी के साथ महफूज़ हलकों में तब्दील कर दिया गया। हैरत की बात यह थी कि जिन इलाकों में दबे-कुचले तबकात की आबादी वाकई सबसे ज़्यादा थी, उन्हें महफूज़ नहीं किया गया, बल्कि मुसलमानों की घनी आबादी वाले इलाकों को महफूज़ कर दिया गया ताकि वहां से कोई मुसलमान उम्मीदवार चुनाव लड़ ही न सके। इस दोहरी मार ने मुसलमानों को मुल्क के इंतखाबी नक्शे पर पूरी तरह बेबस कर दिया। एक तरफ उनके इलाके बांट दिए गए और दूसरी तरफ जहां वह बड़ी तादाद में थे, वहां उनके चुनाव लड़ने पर कानूनी पाबंदी लगा दी गई। यह हदबंदी के नाम पर किया गया वह मुजरिमाना खेल था जिसने मुसलमानों को मुल्क की कानून साज़ मजलिसों से मुसलसल बाहर रखा। जब एक मुसलमान यह देखता है कि उसके अपने मोहल्ले और शहर में उसकी आबादी इतनी ज़्यादा होने के बावजूद वह अपना कोई नुमाइंदा नहीं चुन सकता, तो मुल्क के जम्हूरी निज़ाम से उसका भरोसा टूटने लगता है।

यह सियासी साज़िश इस बात का ज़िंदा सुबूत है कि मुसलमानों को हुकूमत के ऐवानों से दूर रखने के लिए सिर्फ नफरत का ही नहीं, बल्कि मुल्क के कानूनी निज़ाम का भी किस कदर गलत इस्तेमाल किया गया। इस खामोश साज़िश ने मुल्क के ऐवानों में मुसलमानों की आवाज़ को इस कदर दबा दिया कि वह आज तक उभर नहीं सकी है।

मुस्लिम वोटों का बिखराव और कयादत की नाकामी

मुल्क के ऐवानों में मुसलमानों की गिरती हुई तादाद के लिए सिर्फ बाहरी साज़िशें और दीगर सियासी जमातों का तास्सुब ही ज़िम्मेदार नहीं है, बल्कि खुद इस क़ौम की अंदरूनी कमज़ोरियां और कयादत की नाकामी भी इसके लिए बराबर की कसूरवार है। जब हम अपनी सियासी हार और पसमंदगी का जायज़ा लेते हैं, तो यह कड़वा सच भी कुबूल करना पड़ता है कि हिंदुस्तानी मुसलमानों ने अपनी सियासी ताक़त को खुद अपने हाथों से बिखेरने में कोई कसर नहीं छोड़ी। एक तरफ जहां मुल्क की बड़ी सियासी जमातें मुसलमानों को नुमाइंदगी देने से कतरा रही थीं, वहीं दूसरी तरफ मुसलमानों के दरमियान कोई ऐसी बाशऊर और दूरदेश कयादत पैदा नहीं हो सकी जो इस बिखराव को रोककर क़ौम को एक मुकम्मल सियासी ताक़त में तब्दील कर पाती। यह कयादत का ही बोहरान था जिसने मुसलमानों को इंतखाबी मैदान में मुकम्मल तौर पर बे-सिस्त और कमज़ोर कर दिया।

इस अंदरूनी नाकामी का सबसे बड़ा और खौफनाक नज़ारा इंतखाबी मैदान में मुस्लिम वोटों के बिखराव की शक्ल में देखने को मिलता है। जिन हल्कों में मुसलमानों की आबादी इतनी ज़्यादा होती है कि वह आसानी से अपना नुमाइंदा चुन सकते हैं, वहां एक ही हलके में कई-कई मुसलमान उम्मीदवार खड़े हो जाते हैं। अक्सर यह उम्मीदवार अपनी मज़ी से नहीं, बल्कि दीगर सियासी जमातों की साज़िश के तहत खड़े किए जाते हैं ताकि मुस्लिम वोटों को आसानी से काटा जा सके। जज़्बात में बहकर और सही सियासी शऊर की कमी की वजह से अवाम इन मुख्तलिफ उम्मीदवारों के दरमियान बंट जाती है। इसका सीधा नतीजा यह निकलता है कि मुसलमानों के वोट आपस में ही टकरा कर खत्म हो जाते हैं और वह उम्मीदवार जीत हासिल कर लेता है जिसे अवाम हराना चाहती थी।

वोटों का यह बिखराव मुसलमानों की सबसे बड़ी सियासी खुदकुशी साबित हुआ है। इसके अलावा, मुसलमानों के अंदर मौजूद बिरादरी और मसलक के इखिलाफ ने भी उनकी सियासी ताकत को शदीद नुकसान पहुँचाया है। इंतखाबात के वक़्त अक्सर यह देखा गया है कि अवाम किसी उम्मीदवार की काबलियत, उसकी तालीम या उसके जज़्बे को देखने के बजाय यह देखती है कि वह किस बिरादरी से ताल्लुक रखता है या उसका मसलक क्या है। सियासी जमातें और चालाक रहनुमा मुसलमानों की इस नफ़िसियाती कमज़ोरी का भरपूर फायदा उठाते हैं। वह इंतखाबी हल्कों में बिरादरी और मसलक के नाम पर ऐसे उम्मीदवार उतारते हैं जो अवाम को आपस में ही उलझा देते हैं। जब कोई क़ौम अपने अज़ीम मक़सद और मुल्क की हुक्मरानी में हिस्सेदारी को भूलकर छोटी-छोटी बिरादरियों और मसलकों में बंट जाती है, तो उसकी आवाज़ मुल्क के बड़े ऐवानों तक कभी नहीं पहुँच सकती। कयादत की नाकामी ने इस आग में घी का काम किया है। मुसलमानों में जो भी मुकामी रहनुमा या तंज़ीमें उभरीं, उन्होंने कभी अवाम को मुकम्मल सियासी शऊर देने की कोशिश ही नहीं की। उन्होंने अवाम को सिर्फ जज़्बाती तकरीरों और खौफ के नारों तक महदूद रखा। एक अज़ीम और बाशऊर कयादत का काम यह होता है कि वह अपनी क़ौम को मुत्तहिद करे, उन्हें सियासी चालों से आगाह करे और उनके वोटों को एक मर्कज़ पर जमा करे। लेकिन बदकिस्मती से हिंदुस्तानी मुसलमानों को ऐसी कोई कयादत मयस्सर नहीं आ सकी। रहनुमाओं की अपनी जाती लालच, अना और दूरंदेशी की कमी ने मुसलमानों के अज़ीम सियासी वजूद को टुकड़ों में बांट दिया। यह खुद अपनों के हाथों किया गया वह नुकसान है जिसने ऐवानों में मुसलमानों की कुर्सियों को मुसलसल खाली करने में सबसे बड़ा किरदार अदा किया है।

ऐवानों में खामोशी और आम मुसलमान पर नफ़िसियाती असर

मुल्क के ऐवानों और रियासती मजलिसों में जब किसी क़ौम की नुमाइंदगी खत्म हो जाती है, तो वहां सिर्फ कुर्सियां खाली नहीं होतीं, बल्कि उस पूरी क़ौम की आवाज़ हमेशा के लिए खामोश हो जाती है। हिंदुस्तानी मुसलमानों ने इस खामोशी के दर्द को बहुत गहराई से महसूस किया है।

जब मुल्क के सबसे बड़े कमरों में तालीम, रोज़गार, और अवाम की हिफाज़त के कानून बनते हैं, तो वहां मुसलमानों के हक में बोलने वाला कोई मौजूद नहीं होता। फसादात में जब मासूमों का खून बहता है या किसी बेगुनाह को तास्सुब का निशाना बनाया जाता है, तो ऐवानों में सन्नाटा पसरा रहता है। यह एक ऐसा खौफनाक अलमिया है जहां करोड़ों की आबादी के मुस्तकबिल का फैसला तो रोज़ाना होता है, लेकिन उस फैसले में उनकी अपनी कोई मज़ी या मशवरा शामिल नहीं होता। इस सियासी यतीमपन ने आम मुसलमान, खास तौर पर नई नस्ल की नफ़्सीयात पर बहुत गहरा और मनफ़ी असर डाला है। जब एक नौजवान मुसलमान टीवी या अखबारों में मुल्क के ऐवानों की तरफ देखता है और उसे वहां अपने मुआशरे का, अपनी तहज़ीब का कोई चेहरा नज़र नहीं आता, तो उसके दिल में एक शदीद बेगानगी पैदा होती है। उसे यह महसूस होने लगता है कि मुल्क का जम्हूरी निज़ाम उसे अपना मुकम्मल और बराबर का हिस्सा मानने को तैयार ही नहीं है। यह एहसास किसी भी मुल्क की तरक्की और जम्हूरियत की सेहत के लिए निहायत खतरनाक है। जब एक बहुत बड़ी आबादी खुद को सियासी तौर पर बेबस और लाचार महसूस करने लगे, तो मुआशरे में मायूसी का जन्म लेना लाज़िमी है। यह मायूसी नौजवानों को मुल्क की असल तामीर से दूर कर देती है और उनके अंदर एक अजीब सा खौफ घर कर जाता है कि इस मुल्क में उनके लिए कोई जगह नहीं बची है।

जो चंद मुसलमान नुमाइंदे इंतखाब जीतकर ऐवानों तक पहुँच भी जाते हैं, उनकी मुजरिमाना खामोशी इस दर्द को और भी बढ़ा देती है। बड़ी सियासी जमातों के टिकट पर जीतने वाले यह नुमाइंदे अक्सर अपनी पार्टी के आला कमान के खौफ में मुब्तिला रहते हैं। उन्हें हर वक़्त यह डर सताता रहता है कि अगर उन्होंने ऐवान में खड़े होकर अपनी क़ौम की तालीमी पसमंदगी, उर्दू ज़बान या रोज़गार के मसाइल पर बेबाकी से आवाज़ उठाई, तो उन पर मज़हबी होने का इल्ज़ाम लग जाएगा और अगली बार उनका टिकट काट दिया जाएगा। अपनी कुर्सियां बचाने की इस जद्दोज़हद में, ऐवान के अंदर मौजूद ये नुमाइंदे भी गूंगे और बहरे बन जाते हैं। अवाम सड़क पर अपने हुकूक के लिए तड़पती है, और उनके अपने नुमाइंदे ऐवान की ठंडी हवाओं में खामोश तमाशाई बने बैठे रहते हैं। यह खामोशी मुसलमानों की सियासी बेबसी का सबसे बड़ा सुबूत है।

मुल्क की कानून साज़ मजलिसों में मुसलमानों की यह गिरती हुई तादाद और ऐवानों में छाई हुई यह खामोशी सिर्फ एक सियासी हार नहीं है, बल्कि यह हिंदुस्तानी जम्हूरियत के माथे पर एक ऐसा गहरा सवाल है जिसका जवाब तलाश करना बेहद ज़रूरी है। सियासी नुमाइंदगी से इस मुसलसल बेदखली और हुक्मरानों की बेरुखी ने मुसलमानों को मआशी और सामाजी तौर पर जिस खौफनाक पसमंदगी के गार में धकेला है, उसका असर हर मुसलमान घर की दहलीज़ तक पहुँच चुका है। सियासत के इस कड़वे सफर को समझने के बाद, अब यह देखना लाज़िमी है कि इस सियासी फरेब ने ज़मीनी सतह पर मुसलमानों की मआशी हालत का क्या हश्र किया है और सरकारी दस्तावेज़ खुद इस बदहाली की क्या गवाही देते हैं।

सातवां बाब: तालीमी हालात: आज़ादी के बाद से तालीमी पसमंदगी और उसकी वजूहात

तक्रसीम का ज़ख्म और इल्मी सरमाये का नुकसान

आज़ादी और तक्रसीम का वाकया सिर्फ़ ज़मीनों और सरहदों के बंटवारे का नाम नहीं था, बल्कि यह हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए उनके इल्मी और तहज़ीबी सरमाये की एक निहायत खौफनाक लूट थी। तक्रसीम से पहले, मुत्तहिदा हिंदुस्तान में मुसलमानों के पास एक बहुत बड़ा और मज़बूत तालीम याफ़्ता तबका मौजूद था। इसमें बड़े-बड़े मुफक्किर, उस्ताद, अदीब, वकील, और हुकूमती ओहदेदार शामिल थे जो क़ौम की ज़हनी और सामाजी रहनुमाई किया करते थे। लेकिन जब नफरत की आंधी चली और मुल्क बंटा, तो अपनी हिफाज़त और नए मुस्तक़बिल की तलाश में इस इल्मी तबके की एक बहुत बड़ी तादाद हिजरत कर गई। जो लोग सदियों से इस क़ौम की तालीमी और ज़हनी कयादत कर रहे थे, उनके अचानक चले जाने से मुल्क में पीछे रह जाने वाले मुसलमानों के दरमियान इल्म और शऊर का एक ऐसा गहरा ख़ला पैदा हो गया, जिसे आज तक भरा नहीं जा सका।

इस हिजरत का सबसे बड़ा और जानलेवा नुकसान आम और गरीब मुसलमान को उठाना पड़ा। जो मुसलमान इस मुल्क में रह गए थे, उनमें से ज़्यादातर दस्तकार, कारीगर, मज़दूर या छोटे किसान थे। उनके पास न तो दौलत थी और न ही तालीम का कोई पुख़्ता निज़ाम। जो तालीमी इदारे मुसलमानों ने अपनी मेहनत और चंदे से कायम किए थे, वो अचानक अपने बेहतरीन उस्तादों, माहिरों और सरपरस्तों से महरूम हो गए। मुल्क के नए तालीमी निज़ाम में कदम से कदम मिलाकर चलने के लिए जिस रहनुमाई की शदीद ज़रूरत थी, वह रातों-रात ख़त्म हो गई। एक ऐसी क़ौम जिसके बुजुर्गों ने इस मुल्क को इल्म के बड़े-बड़े मरकज़ दिए थे, वह अचानक तालीम के मैदान में मुकम्मल तौर पर यतीम हो गई। उनके पास कोई ऐसा रहनुमा नहीं बचा जो उन्हें यह बता सके कि आने वाले नए दौर में कलम और किताब की क्या अहमियत होने वाली है। तक्रसीम के फौरन बाद मुल्क में जो फसादात का खौफनाक और ज़हरीला माहौल पैदा हुआ, उसने हालात को और भी बदतर कर दिया।

जब किसी इंसान के घर के दरवाज़े पर मौत और खौफ का साया मंडरा रहा हो, तो उसके लिए कलम और किताब की अहमियत खत्म हो जाती है। मुल्क में बचे हुए मुसलमानों के लिए सबसे बड़ा मसला तालीम हासिल करना नहीं, बल्कि अपनी जान बचाना और दो वक्त की रोटी का इंतज़ाम करना बन गया। तालीम, जो किसी भी क़ौम के वकार और तरक्की की पहली सीढ़ी होती है, वह हिंदुस्तानी मुसलमानों की ज़िंदगियों में सबसे आखिरी पायदान पर खिसक गई। तक्रसीम का यह वह गहरा और न नज़र आने वाला ज़ख्म था जिसने मुसलमानों की आने वाली कई नस्लों को तालीमी पसमंदगी के एक ऐसे अंधेरे गार में धकेल दिया, जहां से रौशनी की कोई राह उन्हें दूर-दूर तक दिखाई नहीं दे रही थी।

उर्दू ज़बान का कल्ल और तालीमी बेगानगी

ज़बान सिर्फ़ राब्टे और बातचीत का ज़रिया नहीं होती, बल्कि यह किसी भी क़ौम की रूह, उसकी तहज़ीब और उसकी शानदार तारीख की सबसे बड़ी अमीन होती है। उर्दू ज़बान मुल्क की उसी मुश्तरका गंगा-जमुनी तहज़ीब की सबसे हसीन पैदावार थी जिसने सदियों तक मुल्क के अवाम को एक धागे में पिरो कर रखा था। यह इसी मुल्क की आबोहवा में पैदा हुई, यहीं के बाज़ारों में परवान चढ़ी और मुल्क की आज़ादी की तहरीक में इसने सबसे जानदार और इंक़लाबी नारे फ़राहम किए। लेकिन तक्रसीम के खौफनाक सैलाब ने जहां ज़मीनों और दिलों को बांटा, वहीं ज़बानों का भी मज़हब तय कर दिया। आज़ादी के फौरन बाद मुल्क में एक ऐसी ज़हरीली ज़हनीयत ने जन्म लिया जिसने उर्दू को सिर्फ़ मुसलमानों और मुल्क के दुश्मनों की ज़बान करार देकर उसे शक और नफरत की निगाह से देखना शुरू कर दिया। यह सिर्फ़ एक ज़बान की मुखालफ़त नहीं थी, बल्कि एक पूरी क़ौम की तहज़ीब और उसकी तालीमी बुनियादों को खत्म करने की सोची-समझी साज़िश का आगाज़ था।

शिमाली हिंदुस्तान, खास तौर पर उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे सूबे जहां उर्दू पैदा हुई थी और जो इसके सबसे बड़े मरकज़ थे, वहां इसे सरकारी दफ़्तरों, अदालतों और तालीमी इदारों से रातों-रात बेदखल कर दिया गया। एक दौर था जब हुकूमती फरमान और अदालती फैसले इसी ज़बान में लिखे जाते थे, लेकिन हुकूमतों ने एकतरफा फैसले करके इसके तमाम दरवाज़े बंद कर दिए।

सबसे बड़ा और खौफनाक हमला मुल्क के तालीमी निज़ाम और सरकारी स्कूलों के निसाब पर किया गया। जिन स्कूलों में कल तक उर्दू पढ़ाई जाती थी, वहां से उर्दू के उस्तादों को निकाल दिया गया और किताबों को खामोशी के साथ गायब कर दिया गया। यह एक ऐसा खामोश कत्ल था जिसकी कोई गवाही देने वाला या फरियाद सुनने वाला मौजूद नहीं था। मुल्क के आईन ने हर शहरी को अपनी मादरी ज़बान में तालीम हासिल करने का जो बुनियादी हक़ दिया था, उसे हुकूमती तास्सुब की कैची से निहायत बेरहमी के साथ कतर दिया गया।

इस सौतेले सुलूक का सीधा और सबसे खौफनाक असर मुस्लिम बच्चों की बुनियादी तालीम और उनकी नफ़्सीयात पर पड़ा। जब एक मुसलमान बच्चा अपने घर से निकल कर स्कूल की दहलीज़ पर कदम रखता, तो उसे एक ऐसी अजनबी ज़बान मुसल्लत की हुई मिलती जिससे वह मुकम्मल तौर पर ना-आश्वा था। घर में बोली जाने वाली ज़बान और स्कूल में पढ़ाई जाने वाली ज़बान के इस फासले ने मुस्लिम बच्चों के ज़हन में एक गहरी तालीमी बेगानगी पैदा कर दी। स्कूल उनके लिए तालीम और तरक्की का मरकज़ बनने के बजाय एक ऐसी अजनबी जगह बन गया जहां उनकी अपनी ज़बान, उनके लहज़े और उनकी तहज़ीब के लिए कोई जगह नहीं थी। इस ज़हनी घुटन और गैर-अपनेपन के एहसास ने बच्चों के अंदर से तालीम का शौक खत्म कर दिया। यही वह बुनियादी वजह थी जिसके बाइस स्कूलों में मुस्लिम बच्चों के तालीम बीच में ही छोड़ देने की तादाद मुसलसल और तेज़ी से बढ़ने लगी।

उर्दू ज़बान को खत्म करने का मक़सद सिर्फ़ हुकूमत के दफ़्तरों से एक ज़बान को मिटाना नहीं था, बल्कि हिंदुस्तानी मुसलमानों की नई नस्ल को उनकी शानदार तारीख, उनके अज़ीम मुफ़व्विहों, अदब और उनके मज़हबी विरसे से मुकम्मल तौर पर काट देना था। हुकूमरान यह बहुत अच्छी तरह जानते थे कि जब किसी क़ौम से उसकी ज़बान छीन ली जाती है, तो वह क़ौम आहिस्ता-आहिस्ता अपनी पहचान, अपना वकार और अपना वजूद खोने लगती है। ज़बान के इस खामोश कत्ल ने मुसलमानों को एक अजीब सी तहज़ीबी यतीमी का शिकार बना दिया। जो नई नस्ल आज़ादी के बाद पैदा हुई, वह अपने ही आबा-ओ-अजदाद की किताबों और उनके छोड़े हुए इल्मी खज़ाने को पढ़ने से महरूम हो गई। उनका रिश्ता अपनी उन जड़ों से टूट गया जो उन्हें एक मज़बूत और बाशऊर क़ौम बनाती थीं।

तालीम हासिल करना किसी भी बच्चे या क़ौम के लिए तब तक मुमकिन नहीं होता जब तक तालीमी निज़ाम उसे अपनापन न दे और उसकी तहज़ीब का एहतेराम न करे। उर्दू के साथ हुए इस तास्सुब ने मुसलमानों को तालीमी मैदान में एक ऐसा गहरा ज़ख्म दिया जिसका हर्जाना वह आज तक भुगत रहे हैं। तालीम से दूरी और अपनी ज़बान से बेदखली ने मिलकर मुसलमानों को मआशी और सामाजी पसमंदगी के उस खौफनाक गार में धकेल दिया जहां से उनका उबरना रोज़-ब-रोज़ मुश्किल होता चला गया। यह तालीमी बेगानगी ही वह बुनियादी दीवार थी जिसने मुसलमानों को मुल्क की जदीद तरक्की की दौड़ में सबसे पीछे ला खड़ा किया, और जिसने आगे चलकर उनके स्कूलों और तालीमी इदारों की खस्ताहाली की बुनियाद रखी।

सरकारी तालीमी इदारों की खस्ताहाली और निज़ाम की बेरुखी

तालीम किसी भी मुआशरे की तरक्की और उसकी आने वाली नस्लों के मुस्तकबिल की सबसे बुनियादी शर्त होती है। मुल्क का आईन भी हर शहरी को तालीम का मुकम्मल और यकसां हक़ फराहम करता है। लेकिन हिंदुस्तानी मुसलमानों के तालीमी सफर में हुकूमतों और सरकारी निज़ाम का रवैया निहायत ही सर्द और बेरुखी से भरा रहा। आज़ादी के बाद जब मुल्क भर में तालीम को आम करने के लिए सरकारी तालीमी इदारों का जाल बिछाया जा रहा था, तो मुसलमानों की घनी आबादी वाले इलाकों, मोहल्लों और बस्तियों को एक सोची-समझी खामोशी के साथ नज़रअंदाज़ कर दिया गया। शहर के नक्शों पर जहां-जहां मुसलमानों की आबादी ज़्यादा थी, वहां हुकूमतों ने जान-बूझकर न तो नए तालीमी इदारे खोले और न ही तालीम का कोई बुनियादी ढांचा तैयार किया। जिन इलाकों में दबे-कुचले और गरीब मुसलमान अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी गुज़ार रहे थे, वहां तालीम के मवाके फराहम करने के बजाय उन्हें मुकम्मल तौर पर रियासत की रहम-ओ-करम पर छोड़ दिया गया। सरकारी निज़ाम की इस मुजरिमाना बेरुखी ने मुसलमानों के ज़हनों में यह एहसास पुख्ता कर दिया कि हुकूमत उन्हें तालीम के मैदान में आगे बढ़ता हुआ देखना ही नहीं चाहती। अगर किसी मुस्लिम बहुल इलाके में कोई सरकारी तालीमी इदारा मौजूद भी था, तो उसकी खस्ताहाली और बदहाली हुकूमती तास्सुब की जीती-जागती मिसाल थी।

इन इदारों में न तो बैठने के लिए मुकम्मल कमरे थे, न पीने के पानी का कोई इंतज़ाम था और न ही मौसम की मार से बचने के लिए कोई पक्की छत मयस्सर थी। लेकिन सबसे बड़ा अलमिया इमारतों का टूटना नहीं बल्कि उस्तादों की गैर-मौजूदगी था। सरकारी निज़ाम ने इन इदारों में कभी आला तालीम याफ्ता और काबिले-तारीफ उस्तादों का तक्रर करने की ज़हमत ही गवारा नहीं की। अगर किसी उस्ताद को वहां पढ़ाने की ज़िम्मेदारी सौंप भी दी जाती, तो वह अक्सर हाज़िर होने से कतराता या अपनी ज़िम्मेदारियों से मुकम्मल तौर पर गफलत बरतता। हुकूमत के तालीमी महकमों ने इन इदारों की निगरानी और बेहतरी के लिए कभी कोई संजीदा कदम नहीं उठाया। यह इदारे तालीम और तरक्की के मरकज़ बनने के बजाय सिर्फ एक ऐसे खस्ताहाल सरकारी ढांचे में तब्दील होकर रह गए जिनका मक़सद सिर्फ कागज़ों पर तालीम का भरम कायम रखना था। इस खस्ताहाली और सरकारी बेरुखी का सीधा असर मुस्लिम वालिदैन् और बच्चों की नफ़्सियात पर पड़ा। एक गरीब दस्तकार, मज़दूर या कारीगर मुसलमान जब अपने बच्चे को तालीम हासिल करने के लिए इन इदारों में भेजता, तो उसे वहां तालीम के बजाय सिर्फ मायूसी और बेगानगी का सामना करना पड़ता। जब वालिदैन् यह देखते कि तालीमी इदारे में न तो पढ़ाई का कोई माकूल निज़ाम है और न ही उस्ताद बच्चों की तालीम पर कोई तवज्जो दे रहे हैं, तो उनका रियासती तालीमी निज़ाम से मुकम्मल तौर पर भरोसा उठने लगता।

वह महसूस करने लगते कि हुकूमत का यह निज़ाम उनके बच्चों को तालीम देकर मुल्क का एक ज़िम्मेदार और बाशऊर शहरी बनाने के बजाय उन्हें जहालत के अंधेरों में धकेलने पर तुला हुआ है। तालीम के नाम पर होने वाले इस भद्दे मज़ाक ने आम मुसलमान के हौसले को इस कदर तोड़ दिया कि उसने इन सरकारी तालीमी इदारों की तरफ देखना ही छोड़ दिया। हुकूमती तास्सुब और इन इदारों की इस तबाही ने हिंदुस्तानी मुसलमानों को एक ऐसे खौफनाक जाल में फंसा दिया जहां से तालीम का दामन उनके हाथों से मुसलसल छूटता चला गया। जब इन इदारों में मुस्तकबिल संवरने की कोई उम्मीद बाकी न रही, तो मजबूरी और गुरबत के मारे मुस्लिम वालिदैन् ने अपने बच्चों को वहां से निकाल कर काम-काज में लगाना शुरू कर दिया। जिन नन्हे हाथों में किताबें और कलम होने चाहिए थे, हालात की मार और निज़ाम की बेरुखी ने उनके हाथों में मज़दूरी के औज़ार थमा दिए।

तालीम की कमी ने मुआशरे में गुरबत को मज़ीद बढ़ाया, और गुरबत ने तालीम के दरवाज़े हमेशा के लिए बंद कर दिए। यह तालीमी पसमंदगी का वह खतरनाक चक्र था जिसे सरकारी निज़ाम की बेरुखी ने पैदा किया और जिसने हिंदुस्तानी मुसलमानों की पूरी नई नस्ल को मुल्क की तरक्की और आला रोज़गार की दौड़ से मुकम्मल तौर पर बाहर कर दिया। इसी बेरुखी ने मुसलमानों को अपने दीनी मदरसों की तरफ मुड़ने पर मजबूर किया, जिसका जायज़ा लेना हमारे लिए निहायत लाज़िमी है।

मदरसों का किरदार और जदीद तालीम का फासला

मुल्क के तालीमी निज़ाम की खस्ताहाली और सरकारी बेरुखी ने हिंदुस्तानी मुसलमानों को एक ऐसे चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया जहां उनके पास तालीम हासिल करने के बहुत कम रास्ते बचे थे। ऐसे नाजुक और मायूसकुन हालात में, दीनी मदरसों ने मुसलमानों की तालीम और उनकी तहज़ीब को बचाने में एक निहायत ही अहम और तारीखी किरदार अदा किया। जब रियासत ने मुस्लिम मोहल्लों में स्कूल खोलने से इंकार कर दिया और मौजूद स्कूलों को तबाही के हवाले कर दिया, तो यह मदरसे ही थे जिन्होंने लाखों मुस्लिम बच्चों को जहालत के अंधेरे में डूबने से बचाया। वालिदैन् जो अपने बच्चों को महंगे और दूर-दराज़ के स्कूलों में भेजने की ताकत नहीं रखते थे, उनके लिए मदरसे एक ऐसी पनाहगाह बन गए जहां उनके बच्चों को मुफ्त तालीम, खाना और रहने की जगह मयस्सर हो जाती थी। इन मदरसों ने मुसलमानों के अक़ीदे, उनकी ज़बान और उनके अखलाक को तो मज़बूती से थामे रखा, लेकिन सियासत और वक़्त के बदलते हुए तकाज़ों ने इन मदरसों के इर्द-गिर्द भी पसमंदगी का एक ऐसा दायरा खींच दिया जिसने नई नस्ल को मुल्क की असल तरक्की से बहुत दूर कर दिया। मदरसों का बुनियादी मक़सद मज़हबी तालीम देना और मुआशरे के लिए आलिम और इमाम तैयार करना था। लेकिन जब मुल्क का आम तालीमी निज़ाम मुसलमानों के लिए बंद होने लगा, तो मदरसों पर आम बच्चों को तालीम देने का बोझ भी आ पड़ा। मसला यह नहीं था कि मदरसे तालीम नहीं दे रहे थे, बल्कि सबसे बड़ा अलमिया यह था कि मदरसों का निसाब (पाठ्यक्रम) वक़्त की जदीद (आधुनिक) ज़रूरतों से बहुत पीछे रह गया था।

जब मुल्क और दुनिया में साइंस, रियाज़ी (गणित), और जदीद तकनीकी इल्म की अहमियत बढ़ रही थी, उस वक़्त मदरसों का निज़ाम सिर्फ पुरानी रिवायतों तक महदूद रहा। इसका सीधा असर यह हुआ कि मदरसों से तालीम हासिल करके निकलने वाला एक नौजवान मुसलमान मज़हबी तौर पर तो पुख्ता होता था, लेकिन जब वह मुल्क के रोज़गार के बाज़ार में कदम रखता, तो वह खुद को मुकम्मल तौर पर निहत्था और कमज़ोर महसूस करता। उसके पास वह हुनर और तालीम नहीं होती थी जो उसे एक अच्छी सरकारी नौकरी या किसी बड़े इदारे में इज़्ज़तदार रोज़गार दिला सके। दीनी तालीम और जदीद दुनियावी तालीम के दरमियान पैदा होने वाले इस फासले ने मुल्क के मुसलमान नौजवानों को तरक्की की दौड़ में सबसे पीछे ला खड़ा किया। जो बच्चे स्कूल जाते थे, उनकी तादाद पहले ही बहुत कम थी, और जो मदरसों में पढ़ते थे, वह मुल्क के अहम इम्तिहानात, जैसे कि पुलिस, फौज, बैंक या सिविल सर्विसेज़ का मुकाबला करने के काबिल नहीं बन पाते थे। हुक्मतों ने मदरसों को जदीद तालीम से जोड़ने के लिए कभी कोई संजीदा और ईमानदार कोशिश नहीं की। अगर कभी मदरसों की बेहतरी के नाम पर कोई मंसूबा बनाया भी गया, तो वह सिर्फ कागज़ी दावों तक महदूद रहा या फिर उसे मदरसों के निज़ाम में गैर-ज़रूरी सरकारी दखलंदाज़ी के तौर पर देखा गया। हुक्मत के इस दोहरे रवैये ने मदरसों को मुल्क के आम तालीमी धारे से मुकम्मल तौर पर अलग-थलग कर दिया। इस तालीमी फासले का एक बहुत बड़ा और खौफनाक नफ़्सीयाती असर भी हुआ। जब जदीद तालीम से महरूम एक मुसलमान नौजवान मुल्क के पढ़े-लिखे तबके के सामने आता, तो उसे अक्सर एहसास-ए-कमतरी (हीन भावना) का शिकार होना पड़ता। वह यह महसूस करता कि उसकी तालीम और उसकी सलाहियतें इस नए दौर की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए काफी नहीं हैं। इस एहसास ने मुसलमानों की नई नस्ल में एक अजीब सी बेगानगी और मायूसी पैदा कर दी। तालीम जो इंसान को हौसला और ताक़त देती है, वही तालीम जदीद दुनिया से कट जाने की वजह से मुसलमानों के लिए एक ऐसी रुकावट बन गई जिसने उन्हें मआशी तौर पर आगे बढ़ने से रोक दिया। यह वह तालीमी बोहरान था जिसने मुसलमानों को एक ऐसे दलदल में फंसा दिया जहां से बाहर निकलना उनके लिए लगभग ना-मुमकिन हो गया। और इसी बदहाली ने मुसलमानों को गुरबत और मज़दूरी के उस खौफनाक जाल में धकेल दिया जिसका ज़िक्र हम अगले हिस्से में करेंगे।

गुरबत का जाल और तालीम का छूटता हुआ दामन

किसी भी मुआशरे में तालीम और मआशी खुशहाली का आपस में निहायत गहरा रिश्ता होता है। जब कोई क्रौम मआशी तौर पर कमज़ोर हो जाती है, तो उसके लिए सबसे पहला समझौता अपनी नई नस्ल की तालीम पर करना पड़ता है। हिंदुस्तानी मुसलमानों के साथ बिल्कुल यही खौफनाक हकीकत पेश आई। आज़ादी के बाद सरकारी महकमों से बेदखली, कारोबार में मुसलसल नुकसान और फसादात की वजह से मुसलमानों की एक बहुत बड़ी आबादी शदीद गुरबत और इफ़लास के गहरे गार में जा गिरी। जब घर में दो वक़्त की रोटी का इंतज़ाम करना ही ज़िंदगी की सबसे बड़ी और मुश्किल जद्दोज़हद बन जाए, तो वहां बच्चों को आला तालीम दिलवाने का ख्वाब देखना एक ना-मुमकिन सी बात हो जाती है। यह वह कड़वा और ज़मीनी सच था जिसने मुल्क के लाखों मुस्लिम वालिदैन को एक ऐसी दर्दनाक कशमकश में मुब्तिला कर दिया जहां उन्हें अपने बच्चों के मुस्तकबिल और अपने पेट की भूख में से किसी एक को चुनना था।

इस मजबूरी और बेबसी ने मुसलमानों के तालीमी सफ़र को मुकम्मल तौर पर रोक दिया। एक गरीब बाप जब यह देखता कि मुल्क के तालीमी निज़ाम में उसके बच्चे के लिए कोई हमदर्दी नहीं है और तालीम हासिल करने के बाद भी रोज़गार की कोई ज़मानत नहीं है, तो उसका हौसला टूट जाता। हालात की इस बेरहम मार ने वालिदैन को मजबूर किया कि वे अपने मासूम बच्चों के हाथों से किताबें और कलम छीन कर उन्हें मज़दूरी के औज़ार थमा दें। जिन बच्चों को तालीमी इदारों के मैदानों में मुस्तकबिल के ख्वाब बुनने चाहिए थे, वह कम-उमरी में ही कारखानों, करघों, सिलाई मशीनों और मरम्मत की दुकानों की भट्टी में झोंक दिए गए। पीतल के कारखाने हों, कालीन बुनने का काम हो, या मोटर गाड़ियों की मरम्मत की दुकानें, हर जगह छोटे-छोटे मुस्लिम बच्चे अपने हाथों को काला करते हुए नज़र आने लगे। यह सिर्फ़ एक बच्चे का बचपन नहीं छिन रहा था, बल्कि एक पूरी क्रौम का मुस्तकबिल धुएं में उड़ रहा था। गुरबत और तालीम से दूरी ने मिलकर एक ऐसा खतरनाक और न टूटने वाला जाल बुना, जिसने मुसलमानों की कई नस्लों को अपनी मुकम्मल गिरफ्त में ले लिया।

जो बच्चा कम-उमरी में मज़दूरी करने लगता, वह बड़ा होकर भी उसी गुरबत का शिकार रहता, और फिर वह अपने बच्चों को भी तालीम दिलाने के काबिल नहीं हो पाता। यह पसमंदगी का एक ऐसा खौफनाक चक्र बन गया जिसमें मुल्क की एक बहुत बड़ी और अज़ीम अकलियत मुसलसल पिसती रही। जो नौजवान अपनी ज़हानत और सलाहियतों के दम पर मुल्क के बड़े साइंसदां, मुफक्किर या आला ओहदेदार बन सकते थे, वह सिर्फ अपनी मआशी तंगी की वजह से मुल्क की सड़कों और कारखानों में गुमनाम मज़दूर बनकर रह गए। इस इंसानी और इल्मी सरमाये की तबाही पर मुल्क के हुक्मरानों और निज़ाम ने हमेशा खामोशी अख्तियार किए रखी और इस गुरबत को दूर करने के लिए कभी कोई संजीदा कोशिश नहीं की।

यहाँ आकर तालीमी पसमंदगी की यह दास्तान मुकम्मल होती है। उर्दू ज़बान का छिन जाना, तालीमी इदारों की खस्ताहाली, मदरसों का जदीद दुनिया से फासला और आखिर में गुरबत की इस ज़ंजीर ने मिलकर हिंदुस्तानी मुसलमानों को तालीम के मैदान में मुकम्मल तौर पर यतीम कर दिया। जब किसी क्रौम के पास तालीम की दौलत नहीं रहती, तो उसका मआशी और सामाजी पतन यकीनी हो जाता है। तालीम के इस दर्दनाक सफर और उसकी वजूहात को समझने के बाद, अब हमारी किताब का अगला रुख इस बात की तरफ होगा कि इस बे-तालीमी और सियासी नज़रअंदाज़ी ने ज़मीनी सतह पर मुसलमानों की मआशी हालत का क्या हश्र किया।

आठवां बाब: मआशी हालात: रोज़गार, कारोबार और सरकारी मुलाज़मतों में मुसलमानों की हिस्सेदारी

मआशी ज़वाल का आगाज़ और ज़मीनी हकीकत

मुल्क की आज़ादी और तक्रसीम का वाकया हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए सिर्फ एक सियासी और तालीमी अलमिया नहीं था, बल्कि यह उनकी मआशी कमर टूटने का भी सबसे खौफनाक आगाज़ था। तक्रसीम से पहले, मुत्तहिदा हिंदुस्तान में मुसलमानों की मआशी हैसियत निहायत मज़बूत और शानदार हुआ करती थी। इस क्रौम में बड़े-बड़े ज़मींदार, मालदार ताजिर और ऐसे बेमिसाल दस्तकार मौजूद थे जिनके हुनर का डंका पूरी दुनिया में बजता था। लेकिन जब सरहदों पर नफरत की लकीरें खींची गईं, तो मुल्क के सरमाये और दौलत का भी निहायत बेरहमी के साथ बंटवारा हो गया। अपनी जान, माल और इज़्ज़त की हिफाज़त की खातिर मुस्लिम मुआशरे का वह तबका हिजरत कर गया जिसके पास दौलत, बड़ा सरमाया और तिज़ारती तजुर्बा था। मुल्क में जो मुसलमान रह गए, उनमें से ज़्यादातर छोटे कारीगर, दस्तकार या खेतों में काम करने वाले मज़दूर थे। दौलतमंद और सरमायादार तबके के अचानक चले जाने से हिंदुस्तानी मुसलमानों का मआशी ढांचा रातों-रात ढह गया। उनके पास न तो नए कारोबार शुरू करने के लिए कोई दौलत बची और न ही कोई ऐसा रहनुमा जो इस मआशी तबाही से उबरने का रास्ता दिखा सके।

मुल्क में नई हुकूमत के कयाम के बाद जो नए मआशी और कानूनी निज़ाम नाफिज़ हुए, उन्होंने मुसलमानों के बचे-खुचे मआशी वकार को भी मुकम्मल तौर पर खत्म कर दिया। ज़मींदारी निज़ाम के खात्मे का कानून यकीनन मुल्क के आम किसानों के लिए एक बहुत बड़ा और इंकलाबी कदम था, लेकिन इसने मुस्लिम मुआशरे के उस खुशहाल तबके को ज़मीन पर ला पटका जिसकी पूरी मआशत सिर्फ ज़मीनों की आमदनी पर मुनहसिर थी। ज़मीनें छिन जाने के बाद, यह तबका मुकम्मल तौर पर बे-आसरा हो गया। चूंकि इस तबके के पास जदीद दुनियावी तालीम और नए दौर के कारोबार का कोई तजुर्बा नहीं था, इसलिए वह मुल्क के नए सनअती और तिज़ारती निज़ाम में खुद को ढालने में पूरी तरह नाकाम रहे।

दौलत और ज़मीन के इस अचानक छिन जाने ने एक ऐसे तबके को, जो कल तक दूसरों को रोज़गार फराहम करता था, मोहताजी और गुरबत की दहलीज़ पर ला खड़ा किया।

मआशी तबाही के इस सफर में फसादात ने सबसे खौफनाक और मुजरिमाना किरदार अदा किया। आज़ादी के बाद मुल्क के मुख्तलिफ हिस्सों में जो फसादात का मुसलसल सिलसिला शुरू हुआ, उसका मकसद सिर्फ़ इंसानी जानों का नुकसान नहीं था, बल्कि यह मुसलमानों की मआशत को तबाह करने की एक सोची-समझी साज़िश थी। इन फसादात में जान-बूझकर मुसलमानों के बाज़ारों, उनकी दुकानों और उनके कारखानों को आग के हवाले किया गया। एक ताजिर या दस्तकार जो बरसों की खून-पसीने की मेहनत से अपना कारोबार खड़ा करता, उसे एक ही रात में नफरत की आग में जलाकर राख के ढेर में तब्दील कर दिया जाता। मुसलसल होने वाले इन फसादात ने मुसलमानों के दिलों में एक ऐसा खौफ पैदा कर दिया कि उन्होंने बड़े कारोबार में अपना सरमाया लगाना ही छोड़ दिया। अपनी जान और माल को महफूज़ रखने की इस जद्दोजहद में, मुल्क का मुसलमान सिर्फ़ अपने रोज़मर्रा के खर्च पूरे करने तक महदूद हो गया और मुल्क की बड़ी मआशत से उसका रिश्ता मुकम्मल तौर पर टूट गया।

इन तमाम अवामिल ने मिलकर एक ऐसी क़ौम को, जिसका मुल्क की दौलत और बाज़ारों पर कभी एक बड़ा असर-ओ-रसूख हुआ करता था, आहिस्ता-आहिस्ता मुआशरे के सबसे गरीब और दबे-कुचले तबके में तब्दील कर दिया। सरमाये की कमी, हुकूमती निज़ाम की बेरुखी और फसादात के खौफ ने मुसलमानों के मआशी वजूद को इस कदर खोखला कर दिया कि उनके लिए अपने बच्चों को दो वक़्त की रोटी फराहम करना भी मुश्किल हो गया। दौलत से महरूमी ने उन्हें सामाजी तौर पर भी कमज़ोर कर दिया और वह मुल्क की तरक्की के सफर में एक बेबस तमाशाई बनकर रह गए। मआशी ज़वाल के इस खौफनाक आगाज़ ने मुसलमानों को उस मुकाम पर ला खड़ा किया जहां उन्हें हुकूमत की मदद और रोज़गार की शदीद ज़रूरत थी, लेकिन सरकारी मुलाज़मतों के दरवाज़ों पर उनके साथ जो सुलूक हुआ, वह इस मआशी तबाही का एक और दर्दनाक बाब है।

सरकारी मुलाज़मतों में खामोश पाबंदी और तास्सुब

किसी भी मुल्क में सरकारी मुलाज़मतें सिर्फ़ रोज़गार का ज़रिया नहीं होतीं, बल्कि वह मुल्क के निज़ाम में किसी क़ौम की हिस्सेदारी और उसकी अहमियत का सबसे बड़ा सुबूत होती हैं। आज़ादी से पहले मुत्तहिदा हिंदुस्तान के सरकारी महकमों में मुसलमानों की एक बहुत बड़ी और नुमाया तादाद मौजूद थी। लेकिन तक्रसीम के फ़ौरन बाद मुल्क के सरकारी निज़ाम ने मुसलमानों के तई एक ऐसा सर्द और तास्सुब से भरा रवैया इख्तियार किया जिसने उनकी मआशी कमर को मुकम्मल तौर पर तोड़ कर रख दिया। हुकूमतों ने मुसलमानों को नौकरियों से रोकने के लिए कोई बाज़ाबता कानून तो नहीं बनाया, लेकिन एक गैर-ऐलानिया और खामोश पाबंदी के तहत उनके लिए सरकारी मुलाज़मतों के दरवाज़े आहिस्ता-आहिस्ता बंद कर दिए गए। यह एक ऐसी खामोश और गहरी साज़िश थी जिसके तहत किसी भी मुसलमान उम्मीदवार को उसकी काबलियत के बजाय उसके मज़हब और उसके नाम की बुनियाद पर रोज़गार के हुकूक से महरूम कर दिया जाता था।

इस तास्सुब का सबसे खौफनाक और ज़हरीला नज़ारा मुल्क के हिफाज़ती दस्तों यानी पुलिस और फौज की भरती में देखने को मिला। तक्रसीम के बाद एक सोची-समझी ज़हनीयत के तहत आम मुसलमान की मुल्क के तई वफादारी पर शक किया जाने लगा। जिन नौजवानों के आबा-ओ-अजदाद ने इस मुल्क की आज़ादी के लिए अपनी जानें कुर्बान की थीं, उन्हें महज़ उनके मज़हब की वजह से मुल्क की हिफाज़त के ना-काबिल समझ लिया गया। पुलिस महकमे में मुसलमानों की तादाद को जान-बूझकर इस कदर कम कर दिया गया कि वह मुल्क के हिफाज़ती निज़ाम से मुकम्मल तौर पर गायब हो गए। इसका सीधा और खौफनाक असर फसादात के दौरान देखने को मिला। जब कोई मुस्लिम मोहल्ला या बस्ती नफरत की आग में जल रही होती, तो वहां हिफाज़त के लिए पहुंचने वाले पुलिस दस्तों में उन्हें अपना कोई चेहरा नज़र नहीं आता था। हिफाज़ती महकमों में नुमाइंदगी की इस मुजरिमाना कमी ने आम मुसलमान के अंदर एक गहरा नफ़िसयाती खौफ और रियासत के तई अदम-एतमाद पैदा कर दिया। फौज या पुलिस ही नहीं, बल्कि मुल्क के दीगर अहम सरकारी महकमों, जैसे रेलवे, डाकखाने, और इंतजामिया में भी मुसलमानों के साथ मुसलसल सौतेला सुलूक किया गया।

जब कोई आला तालीम याफ्ता और काबिले-तारीफ मुसलमान नौजवान अपनी तमाम तर सलाहियतों के साथ किसी सरकारी मुलाज़मत के लिए दरखास्त देता, तो अक्सर उसका नाम देखकर ही उसे मुकाबले की दौड़ से बाहर कर दिया जाता। उसकी काबलियत, उसकी तालीमी दस्तावेज़ात और उसकी मेहनत हुकूमती तास्सुब की भेंट चढ़ जाती थीं। मुलाज़मत के लिए होने वाली सवालात की मेज़ पर बैठे हुए ओहदेदार अक्सर एक मुसलमान उम्मीदवार को शक और बेरुखी की निगाह से देखते थे। यह एक ऐसा जुल्म था जिसका शिकार मुल्क का वह नौजवान तबका हो रहा था जिसने गुरबत के बावजूद तालीम हासिल की थी। इस खामोश तास्सुब ने मुस्लिम नौजवानों के हौसले इस कदर तोड़ दिए कि उनमें से एक बड़ी तादाद ने सरकारी मुलाज़मतों के लिए दरखास्तें देना ही बंद कर दिया।

हुकूमतों के इस मुसलसल तास्सुब और बेरुखी ने मुसलमानों को मआशी तौर पर एक ऐसे दलदल में फंसा दिया जहां से उनके लिए निकलना नामुमकिन हो गया। सरकारी महकमों से इस बेदखली का सीधा मतलब यह था कि मुल्क के खज़ाने और मुल्क की तरक्की में मुसलमानों का कोई हिस्सा नहीं रहा। जब रियासत खुद अपनी एक अज़ीम अकलियत को रोज़गार देने से मुकर जाए, तो उस क्रौम की मआशी तबाही लाज़िमी हो जाती है। सरकारी नौकरियों से नाउम्मीद होने के बाद, मुस्लिम नौजवानों ने जब अपनी रोज़ी-रोटी के लिए गैर-सरकारी इदारों और बड़े कारखानों का दरवाज़ा खटखटाया, तो वहां भी उन्हें इसी खौफनाक तास्सुब का सामना करना पड़ा। और यही वह कड़वी हकीकत है जिसे हम अगले हिस्से में समझने की कोशिश करेंगे।

गैर-सरकारी इदारों और बड़े कारोबार में गैर-मौजूदगी

सरकारी महकमों से मुसलसल मायूसी और बेदखली के बाद, रोज़ी-रोटी की तलाश में जब मुसलमान नौजवानों ने मुल्क के बड़े कारखानों और गैर-सरकारी इदारों का दरवाज़ा खटखटाया, तो उन्हें वहां भी एक निहायत खौफनाक और सर्द हकीकत का सामना करना पड़ा। आम तौर पर यह तसव्वुर किया जाता है कि गैर-सरकारी या कारोबारी इदारे सिर्फ काबलियत, मेहनत और हुनर देखते हैं, और वहां किसी के मज़हब या नाम की कोई अहमियत नहीं होती। लेकिन हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए यह तसव्वुर मुकम्मल तौर पर एक फरेब साबित हुआ।

मुल्क के बड़े कारखानों, तिज़ारती मरकज़ों और गैर-सरकारी इदारों में भी मुसलमानों के साथ बिल्कुल वैसा ही तास्सुब बरता गया जैसा सरकारी महकमों में देखने को मिल रहा था। मुआशरे में फैली हुई नफरत और ज़हरीली ज़हनीयत ने इन इदारों के मालिकों और ओहदेदारों के दिलों में भी घर कर लिया था। जब कोई मुसलमान नौजवान रोज़गार की उम्मीद लेकर इन इदारों की दहलीज़ पर पहुँचता, तो अक्सर उसे बिना उसकी असल सलाहियत परखे ही मायूस लौटा दिया जाता। इस गैर-मौजूदगी की एक बड़ी वजह जदीद तालीम की कमी को भी बताया जाता है। यह बात कुछ हद तक दुरुस्त है कि सरकारी स्कूलों की तबाही और शदीद गुरबत की वजह से मुल्क के मुस्लिम नौजवान जदीद दुनियावी तालीम में बहुत पिछड़ गए थे। लेकिन असल अलमिया यह था कि अगर कोई नौजवान अपनी मुसलसल मेहनत और लगन से आला तालीम हासिल कर भी लेता, तो गैर-सरकारी इदारे उसे रोज़गार देने से कतराते थे। मुलाज़मत देने वाले इन बड़े इदारों में यह गैर-ऐलानिया उसूल बन चुका था कि मुसलमानों को अहम और ज़िम्मेदारी वाले ओहदे नहीं सौंपे जाएंगे। एक मुसलमान उम्मीदवार का नाम और उसका लिबास ही उसकी राह की सबसे बड़ी रुकावट बन जाता था। उसे अक्सर वफादारी और काम के मेयार पर बेजा शक की निगाह से देखा जाता। इस तास्सुब ने उन चंद तालीम याफ्ता मुस्लिम नौजवानों के हौसले भी पस्त कर दिए जो अपनी आला काबलियत के दम पर मुल्क की मआशत में अपना मुकम्मल हिस्सा डालना चाहते थे। रोज़गार से इस महरूमी के अलावा, बड़े कारोबार और मुल्क के सनअती मैदान में भी मुसलमानों की गैर-मौजूदगी एक निहायत खौफनाक हकीकत बनकर उभरी। मुल्क के जो बड़े कारखाने, मिलें और भारी तिज़ारती इदारे थे, उनमें किसी मुसलमान का नाम दूर-दूर तक नज़र नहीं आता था। अगर कोई मुसलमान अपना बड़ा कारोबार या कारखाना शुरू करने की ख्वाहिश रखता, तो उसे सरमाये की शदीद कमी का सामना करना पड़ता। मुल्क के खज़ाने और कर्ज़ देने वाले इदारों ने भी मुसलमानों के लिए अपने दरवाज़े खामोशी के साथ बंद कर रखे थे। बिना सरकारी सरपरस्ती और भारी कर्ज़ के, कोई भी बड़ा कारोबार खड़ा करना निहायत मुश्किल होता है। इस मुसलसल नज़रअंदाज़ी ने मुसलमानों को मुल्क की बड़ी सनअतों और जदीद बाज़ारों से मुकम्मल तौर पर काट दिया। दौलत और सरमाये का बहाव मुसलमानों की बस्तियों से इस कदर दूर कर दिया गया कि पूरी क़ौम मआशी तौर पर लाचार होकर रह गई।

सरकारी महकमों और गैर-सरकारी इदारों, दोनों जगह से धुतकारे जाने के बाद हिंदुस्तानी मुसलमानों के पास इज़्जत की रोज़ी कमाने के बहुत कम रास्ते बचे थे। बड़े कारखानों और जदीद बाज़ारों की इस अंधी नफरत ने उन्हें इस बात पर मजबूर कर दिया कि वह अपने पुराने और छोटे कामों की तरफ लौट जाएं। मुस्तकिल रोज़गार के दरवाज़े मुकम्मल तौर पर बंद होने के बाद, मुसलमानों ने अपनी बची-खुची हुनरमंदी, दस्तकारी और छोटी दुकानों का सहारा लिया ताकि वह अपने बच्चों को भुखमरी से बचा सकें। लेकिन हुकूमतों ने उनके इन छोटे कारोबारों और हुनरमंदी के साथ क्या सुलूक किया, यह मआशी तबाही की एक और दर्दनाक दास्तान है जिसे हम अगले हिस्से में समझने की कोशिश करेंगे।

हुनरमंदी, दस्तकारी और छोटे कारोबार की तबाही

आज़ादी के बाद जब सरकारी महकमों और बड़े कारखानों के दरवाज़े मुसलमानों के लिए खामोशी के साथ बंद कर दिए गए, तो उन्होंने अपनी बका और रोज़ी-रोटी के लिए अपने पुश्तैनी हुनर और दस्तकारी का सहारा लिया। मुल्क की तारीख गवाह है कि सूती और रेशमी कपड़ों की बुनाई, पीतल के बर्तनों की साज़ी, तालों की बनावट, कालीन साज़ी और लकड़ी के खूबसूरत कामों में मुसलमान कारीगरों का कोई सानी नहीं था। यह वह तबका था जिसने अपनी खून-पसीने की मेहनत से न सिर्फ अपने कुनबों को पाला, बल्कि मुल्क की मआशत को भी एक मज़बूत सहारा फराहम किया। लेकिन हुकूमतों की मुसलसल बेरुखी और मआशी तास्सुब ने इन हुनरमंदों और छोटे कारोबारियों को एक ऐसी तबाही के मुहाने पर ला खड़ा किया, जहां से उनके शानदार पुश्तैनी हुनर का जनाज़ा निकलना शुरू हो गया। दस्तकारी और छोटे कारोबार की तरक्की के लिए यह निहायत ज़रूरी होता है कि वक़्त के साथ-साथ जदीद आलात और नया सरमाया फराहम किया जाए। दुनिया भर में जब सनअती इंकलाब आ रहा था और हाथों का काम जदीद मशीनों ने लेना शुरू कर दिया था, उस वक़्त हिंदुस्तानी मुसलमान कारीगरों को मुकम्मल तौर पर रियासत की रहम-ओ-करम पर छोड़ दिया गया। हुकूमतों ने इन छोटे कारोबारों को नई तकनीक से जोड़ने या उन्हें रियायती कर्ज़ फराहम करने के लिए कभी कोई संजीदा मंसूबा नहीं बनाया। जब भी कोई गरीब बुनकर या दस्तकार सरकारी माली इदारों का दरवाज़ा खटखटाता।

तो उसे कागज़ी कार्रवाई और तास्सुब के एक ऐसे जाल में उलझा दिया जाता कि वह मुकम्मल तौर पर नाउम्मीद होकर लौट आता। जदीद सहूलियात की कमी और सरमाये के फुकदान ने इन हुनरमंदों को तरक्की की दौड़ से बाहर कर दिया, और वह अपने ही घरों में कैद होकर पुरानी तकनीक से जद्दोजहद करते रहे।

इस खस्ताहाली का सबसे ज़्यादा फायदा मुआशरे के सरमायादार तबके और दरमियानी लोगों ने उठाया। चूंकि इन गरीब मुसलमान कारीगरों के पास अपने माल को सीधे बड़े बाज़ारों तक पहुँचाने का कोई ज़रिया नहीं था, इसलिए वे मुकम्मल तौर पर दरमियानी लोगों के मोहताज़ हो गए। यह लोग कारीगरों से निहायत कम दामों पर माल खरीदते और फिर उसे बड़े बाज़ारों में भारी मुनाफे के साथ बेचते। कारीगर जो दिन-रात आग की भट्टी के सामने बैठकर या करघे पर पसीना बहाकर कोई खूबसूरत चीज़ तैयार करता, उसके हिस्से में सिर्फ इतनी उजरत आती जिससे वह मुश्किल से अपने बच्चों का पेट भर सके। इस मुसलसल इस्तेहसाल ने दस्तकारों की कमर तोड़ दी। उनके हुनर की चमक तो पूरी दुनिया में फैल रही थी, लेकिन उनके अपने घरों के चूल्हे मुसलसल ठंडे पड़ते जा रहे थे।

इस मुसलसल मआशी तबाही ने एक बहुत ही दर्दनाक सामाजी तब्दीली को जन्म दिया। जब कारीगरों ने देखा कि उनका पुश्तैनी हुनर अब उन्हें दो वक्रत की इज़्ज़त की रोटी भी फराहम नहीं कर सकता, तो उन्होंने अपने बच्चों को यह हुनर सिखाना बंद कर दिया। जिन हाथों में दस्तकारी का जादू होना चाहिए था, मजबूरी ने उन्हें सड़कों पर मामूली मज़दूरी करने पर मजबूर कर दिया। मुल्क के बेहतरीन बुनकर, पीतल के कारीगर और हुनरमंद मैकेनिक आहिस्ता-आहिस्ता रोज़ाना उजरत पर काम करने वाले गुमनाम मज़दूरों में तब्दील हो गए। यह सिर्फ एक कारोबार का ज़वाल नहीं था, बल्कि यह एक मुकम्मल तहज़ीब और शानदार हुनर का खामोश कत्ल था, जिसने मुसलमानों को मआशी पसमंदगी के उस खौफनाक जाल में धकेल दिया जिसका ज़िक्र हम इस बाब के आखिरी हिस्से में करेंगे।

मआशी पसमंदगी का जाल और मुस्तकबिल के सवालात

रोज़गार, सरकारी मुलाज़मतों और पुश्तैनी कारोबार से इस मुकम्मल बेदखली ने हिंदुस्तानी मुसलमानों को गुरबत के एक ऐसे खौफनाक और ना-टूटने वाले जाल में फंसा दिया, जिसने उनकी आने वाली कई नस्लों का मुस्तकबिल तारीक कर दिया। जब किसी क़ौम से उसके रोज़गार के हुकूक छीन लिए जाते हैं, तो वह सिर्फ़ मआशी तौर पर कमज़ोर नहीं होती, बल्कि सामाजी और ज़हनी तौर पर भी पतन का शिकार हो जाती है। हुकूमतों की बेरुखी, सरमाये की कमी और मुआशरे में फैले हुए तास्सुब ने मिलकर मुसलमानों को मुल्क की बड़ी मआशत से इस कदर काट दिया कि उनका वजूद सिर्फ़ छोटी बस्तियों और महदूद कारोबार तक सिमट कर रह गया। यह मआशी तबाही कोई इत्तेफ़ाक नहीं थी, बल्कि यह मुसलसल नज़रअंदाज़ी का वह ज़हरीला फल था जिसे पूरी क़ौम आज तक भुगत रही है। इस मआशी पसमंदगी का सबसे खौफनाक नज़ारा मुस्लिम बस्तियों की खस्ताहाली में देखने को मिलता है। जब अवाम के पास इज़्ज़तदार रोज़गार और माकूल आमदनी नहीं होती, तो उनके रहन-सहन का मियारी होना ना-मुमकिन हो जाता है। मुल्क के बड़े शहरों में जहां-जहां मुसलमानों की घनी आबादी है, वहां साफ-सफाई, सेहत और तालीम का कोई बुनियादी ढांचा मौजूद नहीं है। यह बस्तियां अक्सर हुकूमत के शहरी मंसूबों से बाहर रखी जाती हैं। गुरबत की वजह से इन बस्तियों में जरायम और मायूसी का पैदा होना एक कुदरती अमर बन जाता है। एक आला तालीम याफ़्ता नौजवान जब देखता है कि उसकी तालीम उसे इस बदहाली से नहीं निकाल सकती, तो उसका मुल्क के पूरे निज़ाम से भरोसा उठ जाता है। यह मआशी जाल मुसलसल सख़्त होता जा रहा है और मुसलमानों की नई नस्ल को मुल्क की तरक्की की दौड़ से बहुत पीछे छोड़ रहा है। मआशी तबाही के इस खामोश सफर ने मुल्क के मुस्तकबिल और जम्हूरियत पर बहुत गहरे सवालात खड़े कर दिए हैं। क्या कोई मुल्क अपनी इतनी बड़ी आबादी को मआशी तौर पर कमज़ोर रखकर तरक्की की मंज़िलें तय कर सकता है? क्या यह मुमकिन है कि एक तबका मुसलसल गुरबत की चक्की में पिसता रहे और मुल्क खुशहाली का दावा करता रहे? हिंदुस्तानी मुसलमानों की यह मआशी बदहाली सिर्फ़ एक मज़हबी तबके का नुकसान नहीं है, बल्कि यह मुल्क के उस अज़ीम इंसानी और इल्मी सरमाये की तबाही है जो मुल्क की तामीर में एक निहायत अहम किरदार अदा कर सकता था। हुक्मरानों की खामोशी और सियासत के फरेब ने इस तबाही पर हमेशा पर्दा डालने की कोशिश की है।

लेकिन यह मआशी बदहाली कोई खयाली दास्तान या महज़ जज़्बाती शिकायत नहीं है। वक्रत गुज़रने के साथ जब खुद सरकारी इदारों और कमेटियों ने मुसलमानों के हालात का जायज़ा लिया, तो जो हकायक सामने आए उन्होंने पूरी दुनिया को चौंका कर रख दिया। इन सरकारी दस्तावेज़ों ने इस बात पर मुहर लगा दी कि मुसलमानों के साथ रोज़गार और तालीम के मैदान में कितना खौफनाक और मुसलसल तास्सुब बरता गया है। इन हकायक का पर्दाफाश मुल्क की तारीख में पहली बार जिन रिपोर्टों के ज़रिए हुआ, उनका गहरा जायज़ा लेना अब हमारे लिए निहायत लाज़िमी हो चुका है।

नवां बाब: सरकारी रिपोर्टों का तज़्जिया: सच्चर कमेटी और रंगनाथ मिश्रा कमीशन का हकीकी खुलासा

हकीकत की तलाश और मुकम्मल दस्तावेज़ी सुबूतों का कयाम

आज़ादी के बाद से लेकर इक्कीसवीं सदी के आगाज़ तक, हिंदुस्तानी मुसलमानों की मआशी, सामाजी और तालीमी पसमंदगी एक ऐसी हकीकत बन चुकी थी जिसे हर आम-ओ-खास महसूस कर रहा था। लेकिन मुल्क के सियासी हलकों में एक निहायत ही खतरनाक और फरेब पर मबनी नैरेटिव गढ़ा जा रहा था। अक्सरियत परस्त सियासी जमातें मुसलसल यह शोर मचा रही थीं कि मुल्क में मुसलमानों की खुशनूदी और उन्हें खुश करने की सियासत हो रही है। यह दावा किया जा रहा था कि सरकारी खज़ाने का एक बहुत बड़ा हिस्सा मुसलमानों पर लुटाया जा रहा है। इस झूठ को इतनी बार और इतनी शिद्दत से बोला गया कि आम शहरी इसे ही सच मानने लगा। ऐसे में इस बात की शदीद ज़रूरत महसूस की जाने लगी कि सियासत के इस फरेब से पर्दा उठाया जाए और हुकूमती सतह पर एक ऐसा गैर-जानिबदार जायज़ा लिया जाए जो मुकम्मल आदाद-ओ-शुमार के साथ दुनिया को यह बता सके कि आखिर हिंदुस्तानी मुसलमानों की असल ज़मीनी और मआशी हकीकत क्या है।

इसी ज़रूरत और हकीकत की तलाश के तहत, मार्च दो हज़ार पांच में मुल्क के वज़ीर-ए-आज़म ने एक आला सती कमेटी तश्कील दी। इस कमेटी की कयादत दिल्ली हाई कोर्ट के साबिक चीफ जस्टिस, जस्टिस राजेंद्र सच्चर को सौंपी गई। मुल्क की तारीख में यह कोई मामूली वाकया नहीं था, बल्कि यह पहली बार था जब आज़ाद हिंदुस्तान की किसी हुकूमत ने बाज़ाबता तौर पर और खुसूसियत के साथ सिर्फ मुसलमानों की सामाजी, मआशी और तालीमी हालत का मुकम्मल जायज़ा लेने के लिए कोई सरकारी कमेटी बनाई थी। इस कमेटी को यह ज़िम्मेदारी दी गई कि वह मुल्क की रियासतों, सरकारी महकमों, तालीमी इदारों और माली निज़ाम से मुकम्मल और हकीकी आदाद-ओ-शुमार जमा करे और यह पता लगाए कि मुल्क की तरक्की के सफर में मुसलमान कहां खड़े हैं। जस्टिस सच्चर की कयादत में इस कमेटी ने अपना काम निहायत ही संजीदगी और साइंसी बुनियादों पर शुरू किया।

कमेटी ने अपने दस्तावेज़ात और रिपोर्ट तैयार करने के लिए हवा में तीर नहीं चलाए, बल्कि मुल्क के सबसे मोतबर सरकारी इदारों का दरवाज़ा खटखटाया। इस रिपोर्ट के आदाद-ओ-शुमार दो हज़ार एक की सरकारी मर्दुम-शुमारी, नेशनल सैंपल सर्वे ऑर्गनाइजेशन के मुकम्मल डेटा, रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया की रिपोर्टें, और मुल्क के तमाम अहम वज़ारतों से हासिल किए गए थे। कमेटी के अरकान ने मुल्क भर का दौरा किया, रियासती हुकूमतों से जवाब तलब किए, यूनिवर्सिटियों के दस्तावेज़ खंगाले और बैंकों से यह तपसील मांगी कि उन्होंने मुसलमानों को कितना कर्ज़ फ़राहम किया है। यह वह मुकम्मल और प्रामाणिक तरीका था जिसने इस रिपोर्ट को एक ऐसी अहमियत बख्शी कि इसे दुनिया का कोई भी तास्सुब पसंद इंसान झुटला नहीं सकता। सच्चर कमेटी के कयाम से ठीक चंद माह पहले, अक्टूबर दो हज़ार चार में, मुल्क की हुकूमत ने एक और निहायत अहम कमीशन तश्कील दिया था जिसे मज़हबी और लिसानी अकलियतों के लिए कौमी कमीशन कहा जाता है। इस कमीशन की कयादत मुल्क के साबिक चीफ जस्टिस, जस्टिस रंगनाथ मिश्रा को सौंपी गई थी। जहां सच्चर कमेटी का काम सिर्फ़ मुसलमानों के हालात का हकीकी जायज़ा लेना और हकायक सामने लाना था, वहीं रंगनाथ मिश्रा कमीशन को यह ज़िम्मेदारी दी गई थी कि वह इन दबे-कुचले तबकात की पसमंदगी को दूर करने के लिए आईनी और कानूनी सिफारिशात पेश करे। यह दोनों कमेटियां दरअसल मुल्क के उस खामोश और दर्दनाक सच को बेनकाब करने के लिए बनाई गई थीं, जिसे आज़ादी के बाद से मुसलसल नज़रअंदाज़ किया जा रहा था। नवंबर दो हज़ार छह (2006) में जब जस्टिस राजिंदर सच्चर ने अपनी मुकम्मल रिपोर्ट हुकूमत को पेश की, तो मुल्क के सियासी और सामाजी हलकों में एक ज़लज़ला आ गया। चार सौ से ज़ायद सफ़हात पर मुश्तमिल यह दस्तावेज़ कोई कहानी नहीं बल्कि मुल्क के सबसे अहम महकमों से हासिल किए गए आदाद-ओ-शुमार का वह आईना था जिसने मुसलमानों की खुशनूदी के सारे झूठे दावों को हमेशा के लिए दफन कर दिया। इस रिपोर्ट ने पहली बार दस्तावेज़ी सुबूत के साथ यह साबित किया कि हिंदुस्तानी मुसलमान मआशी और सामाजी ऐतबार से मुल्क के दलितों और दीगर पिछड़े तबकात से भी बदतर हालत में पहुँच चुके हैं। यह रिपोर्ट किसी मुसलमान रहनुमा की लिखी हुई नहीं थी, बल्कि मुल्क की अपनी हुकूमत की छापी हुई वह मुहर थी जिसने मुसलमानों के साथ होने वाले साठ साल के तास्सुब को मुकम्मल तौर पर बेनकाब कर दिया। आगे के हिस्सों में हम इसी रिपोर्ट के उन चौंकाने वाले आदाद-ओ-शुमार का तपसीली जायज़ा लेंगे, जो इस किताब का सबसे बड़ा दस्तावेज़ी सुबूत साबित होंगे।

सरकारी दस्तावेज़ के चौंकाने वाले आदाद-ओ-शुमार और तालीमी व मआशी हकायक

जस्टिस राजिंदर सच्चर की कयादत में तैयार होने वाली इस आला सती दस्तावेज़ ने जब अपने आदाद-ओ-शुमार मुल्क के हुक्मरानों और अवाम के सामने रखे, तो वह महज़ कुछ कागज़ी आदाद नहीं थे, बल्कि एक पूरी क़ौम की सामाजी और मआशी तबाही का जीता-जागता और खौफनाक सुबूत थे। इस दस्तावेज़ ने सबसे पहला और गहरा वार उस झूठे बयानी पर किया जिसमें यह दावा किया जाता था कि हुक्मर्तें मुसलमानों को खुश करने के लिए खज़ाने लुटा रही हैं। दस्तावेज़ ने मुकम्मल तहकीक के बाद यह साबित किया कि खुशहाली तो दूर की बात है, हिंदुस्तानी मुसलमान मुल्क के सबसे दबे-कुचले तबकात यानी दलितों और आदिवासियों से भी बदतर ज़िंदगी गुज़ारने पर मजबूर हैं। तालीमी मैदान में मुसलमानों की पसमंदगी का जो नक्शा इस दस्तावेज़ ने खींचा, उसने मुल्क के ज़मीर को झकझोर कर रख दिया। आदाद-ओ-शुमार ने वाज़ेह किया कि मुल्क भर में मुसलमानों की ख्वांदगी यानी पढ़े-लिखे होने की शराह मुल्क की आम औसत से निहायत नीचे थी। जहां मुल्क की आम ख्वांदगी पैसठ फीसद के करीब थी, वहीं मुसलमानों में यह शराह सिर्फ़ उनसठ फीसद तक सिमटी हुई थी। लेकिन असल खौफनाक हकीकत इब्तिदाई तालीम के बाद सामने आती है। दस्तावेज़ ने बाज़ाब्ता तौर पर दर्ज किया कि छह से चौदह साल की उम्र के पच्चीस फीसद मुस्लिम बच्चे या तो कभी स्कूल गए ही नहीं या उन्होंने बीच में ही तालीम तर्क कर दी। तालीम छोड़ने की यह शराह मुल्क के किसी भी दूसरे मज़हबी या सामाजी तबके से कहीं ज़्यादा थी।

आला तालीम के मैदान में तो मुसलमानों का वजूद लगभग खत्म होता हुआ नज़र आया। सरकारी हकायक के मुताबिक, मुल्क में बीस साल या उससे ज़्यादा उम्र के नौजवानों में, जहां मुल्क के दीगर तबकात में आला तालीम याफ़्ता (ग्रेजुएट) नौजवानों की तादाद सात फीसद से ज़्यादा थी, वहीं मुसलमानों में यह तनासुब महज़ तीन फीसद के आस-पास था। मुल्क के बेहतरीन तालीमी इदारों, जैसे कि आला तकनीकी और तिब्बी (मेडिकल) इदारों में मुसलमानों की तादाद एक से दो फीसद के दरमियान पाई गई।

दस्तावेज़ ने इस बात पर शदीद हैरत का इज़हार किया कि जिन मुस्लिम बस्तियों में तालीम की सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी, वहां हुकूमतों ने स्कूल खोलने की ज़हमत ही गवारा नहीं की। उत्तर प्रदेश, बिहार और मगरिबी बंगाल जैसे सूबों में जहां मुसलमानों की आबादी बहुत घनी है, वहां हज़ार-हज़ार की आबादी पर एक भी सरकारी स्कूल मौजूद नहीं था। मआशी बदहाली और गुरबत के हवाले से जो हकायक पेश किए गए, वह इस बात की गवाही दे रहे थे कि मुसलमानों को मुल्क के मआशी निज़ाम से मुकम्मल तौर पर बेदखल कर दिया गया है। शहरी इलाकों में बसने वाले मुसलमानों की हालत सबसे ज़्यादा दर्दनाक पाई गई। दस्तावेज़ के मुताबिक, मुल्क के बड़े शहरों में काम करने वाले अड़तीस फीसद मुसलमान ऐसे थे जो महज़ रोज़ाना की उजरत या मज़दूरी पर अपनी ज़िंदगी बसर कर रहे थे। एक बहुत बड़ा तबका छोटे-मोटे हुनर, जैसे सिलाई, मेकेनिक का काम, या फेरी लगाने तक महदूद था। मुल्क की बड़ी सनअतों और बाज़ारों में मुसलमानों की हिस्सेदारी ना के बराबर थी। गुरबत की लकीर से नीचे ज़िंदगी गुज़ारने वालों में मुसलमानों का तनासुब दलित तबके के बिल्कुल करीब पहुँच चुका था। मुल्क के माली इदारों और सरमाये की फराहमी के सुबूतों ने हुकूमती तास्सुब को मुकम्मल तौर पर नंगा कर दिया। किसी भी क्रौम की तरक्की के लिए यह लाज़िमी है कि उसे कारोबार के लिए आसान शरायत पर सरमाया मयस्सर हो। लेकिन दस्तावेज़ ने यह खौफनाक हकीकत बेनकाब की कि मुल्क के माली इदारों ने जान-बूझकर मुस्लिम बस्तियों को ऐसे इलाकों की फेहरिस्त में डाल रखा था जहां कर्ज़ देना खतरे से खाली नहीं समझा जाता। दस्तावेज़ ने वाज़ेह किया कि मुसलमानों की कुल आबादी के तनासुब में उन्हें मिलने वाले कर्ज़ की रकम मुल्क के कुल कर्ज़ का महज़ चार फीसद थी। जब मुल्क के माली इदारे ही किसी क्रौम के लिए अपने दरवाज़े बंद कर लें, तो उस क्रौम का दस्तकार, कारीगर या छोटा ताजिर कैसे तरक्की कर सकता है? इसी माली तास्सुब ने मुसलमानों के पुश्तैनी कारोबार को तबाही के मुहाने पर ला खड़ा किया। रहने-सहने के हालात और बुनियादी सहूलियात पर इस दस्तावेज़ ने जो सुबूत फराहम किए, वह हुकूमतों के शहरी मंसूबों पर एक तमाचा थे। दस्तावेज़ ने साबित किया कि मुल्क भर में मुसलमानों की एक बहुत बड़ी तादाद ऐसी बस्तियों में रहने पर मजबूर है जहां पक्की सड़कें, पीने का साफ पानी, सीवर लाइन और सेहत के बुनियादी मरकज़ मौजूद ही नहीं हैं। मुल्क के एक-तिहाई मुस्लिम घरों में पीने के पानी का कोई पुख्ता इंतज़ाम नहीं था।

और बड़ी तादाद में घरों में बिजली का कनेक्शन तक मयस्सर नहीं था। यह आदाद-ओ-शुमार साबित कर रहे थे कि मुल्क की हुकूमतों ने मुसलमानों की बस्तियों को शहरी तरक्की के नक्शे से ही मिटा दिया है। यह वह मुकम्मल और सरकारी हकायक थे जिन्होंने मुल्क की तारीख में पहली बार अवाम और हुक्मरानों को आईना दिखाया। तालीम, मआशत, और बुनियादी सहूलियात में इस मुकम्मल तबाही को दर्ज करने के बाद, दस्तावेज़ ने अपना रुख मुल्क के उन ऐवानों और महकमों की तरफ किया जहां से हुकूमत की असल ताक़त का इस्तेमाल होता है, और वहां जो हकायक मिले वह इस पसमंदगी की सबसे बड़ी वजह बनकर सामने आए।

सरकारी महकमों और निज़ाम में गैर-मौजूदगी की सरकारी गवाही

जस्टिस सच्चर की कयादत में तैयार होने वाली इस तारीखी दस्तावेज़ का सबसे संजीदा, खौफनाक और मुल्क के जम्हूरी निज़ाम पर सवालिया निशान लगाने वाला हिस्सा वह था, जिसमें मुल्क के सरकारी महकमों, हिफाज़ती दस्तों और हुकूमत की अपनी मशीनरी में मुसलमानों की हिस्सेदारी का मुकम्मल जायज़ा लिया गया। बरसों से मुल्क के मुसलमान यह फरियाद कर रहे थे कि उन्हें जान-बूझकर सरकारी मुलाज़मतों और हुकूमत के असल निज़ाम से बाहर रखा जा रहा है, लेकिन हुक्मरान इसे हमेशा एक जज़्बाती इल्ज़ाम कहकर खारिज कर दिया करते थे। इस दस्तावेज़ ने पहली बार मुकम्मल सरकारी आदाद-ओ-शुमार के साथ इस इल्ज़ाम को एक ऐसी कड़वी और दस्तावेज़ी हकीकत में तब्दील कर दिया जिसका कोई भी तास्सुब पसंद इंसान इंकार नहीं कर सकता था। दस्तावेज़ ने यह साबित किया कि मुल्क की कुल आबादी में एक बहुत बड़ी और अहम हैसियत रखने के बावजूद, मुल्क भर की तमाम सरकारी मुलाज़मतों में मुसलमानों की कुल हिस्सेदारी महज़ चार अश्राारिया नौ फीसद (लगभग पांच फीसद) पर सिमटी हुई थी। यह कोई मामूली बात नहीं थी, बल्कि यह इस बात का बाज़ाबता सरकारी एतराफ था कि मुल्क का निज़ाम अपनी सबसे बड़ी अकलियत को रोज़गार देने और उन्हें हुकूमत का बराबर का हिस्सेदार बनाने में मुकम्मल तौर पर नाकाम और बदनियती का शिकार रहा है।

इस दस्तावेज़ ने मुल्क के आला तरीन इंतज़ामी ओहदों और फैसले करने वाली कुर्सियों का जो हकीकी आईना पेश किया, वह और भी ज़्यादा मायूसकुन और हैरतअंगेज़ था। मुल्क के वह अहम तरीन महकमे जो रियासत का असल निज़ाम चलाते हैं और जहां पूरे मुल्क की नीतियां तय होती हैं, वहां मुसलमानों की गैर-मौजूदगी एक गहरे तास्सुब की गवाही दे रही थी। दस्तावेज़ ने दर्ज किया कि मुल्क के सबसे बड़े इंतज़ामी महकमे (जो ज़िलों और सूबों का निज़ाम संभालते हैं) में मुसलमानों की तादाद महज़ तीन फीसद थी। मुल्क के बैरूनी मामलात और सफारतकारी के महकमे में मुसलमानों की नुमाइंदगी सिर्फ एक अश्आरिया आठ फीसद पाई गई। इसका सीधा मतलब यह था कि जब मुल्क की तरक्की, अमन-ओ-अमान और अवाम की भलाई के लिए बड़े ऐवानों में फैसले होते हैं, तो वहां मुसलमानों की तरफ से मशवरा देने या उनके हुक्क का तहफफुज़ करने वाला कोई अफसर मौजूद नहीं होता। इससे भी ज़्यादा खौफनाक सुबूत मुल्क के हिफाज़ती दस्तों और कानून नाफिज़ करने वाले महकमों के हवाले से सामने आया। दस्तावेज़ ने यह हकीकत बयान की कि पुलिस, फौज और दीगर हिफाज़ती महकमों में मुसलमानों की तादाद शर्मनाक हद तक कम है। मुल्क के आला पुलिस अफसरान की फेहरिस्त में मुसलमानों का तनासुब सिर्फ चार फीसद के आस-पास था। निचले दर्जे के पुलिस दस्तों और रियासती पुलिस महकमों में भी उनकी नुमाइंदगी मुसलसल ना के बराबर पाई गई। यह गैर-मौजूदगी कोई इत्तेफाक नहीं थी, बल्कि यह उसी खौफनाक तास्सुब और शक का नतीजा थी जिसके तहत आज़ादी के बाद से मुसलमान नौजवानों की वफादारी पर सवाल खड़े किए गए। हिफाज़ती महकमों में नुमाइंदगी की इसी मुजरिमाना कमी ने फसादात के दौरान आम मुसलमान के अंदर रियासत के तई खौफ, अदम-एतमाद और बेबसी को जन्म दिया था। जब कानून की हिफाज़त करने वालों में कोई अपना नज़र न आए, तो खौफ का पैदा होना लाज़िमी है। सिर्फ हिफाज़ती दस्ते ही नहीं, बल्कि मुल्क के दीगर बड़े अवामी महकमों, जिन पर मुल्क की आम अवाम का दारोमदार होता है, वहां भी हालात बिल्कुल ऐसे ही पाए गए। रेलवे, जो मुल्क का सबसे बड़ा रोज़गार फराहम करने वाला महकमा है, वहां मुसलमानों की हिस्सेदारी महज़ चार अश्आरिया पांच फीसद थी। मुल्क के बड़े सरकारी कारखानों, डाकखानों और अवामी खिदमात के इदारों का हाल भी बिल्कुल खस्ता था। मुल्क के सरकारी बैंकों और माली इदारों के दफ्तरों में मुसलमानों की मुलाज़मतों का तनासुब महज़ दो फीसद पाया गया।

इन आदाद-ओ-शुमार ने यह वाज़ेह कर दिया कि यह गैर-मौजूदगी किसी तालीमी कमी का नतीजा नहीं है, बल्कि यह एक मुसलसल और खामोश नज़रअंदाज़ी का नतीजा है जिसने मुल्क के मुसलमान नौजवानों को सरकारी निज़ाम से मुकम्मल तौर पर बेदखल कर दिया है। यह हकायक दरअसल उस खामोश साज़िश का दस्तावेज़ी सुबूत थे जिसके तहत मुसलमानों को रियासत की ताक़त, मुल्क के खज़ाने और मुल्क के असल इंतज़ामिया से मुसलसल दूर रखा गया।

सच्चर कमेटी की इस दस्तावेज़ ने मुल्क के उन तमाम गैर-मज़हबी दावों की धजियां उड़ा कर रख दीं जो अवाम को मुसलमानों की तरक्की का फरेब दे रहे थे। जब यह तमाम हकायक, जिनमें तालीम से लेकर रोज़गार तक का मुकम्मल जायज़ा शामिल था, हुकूमत की मेज़ पर रखे गए, तो यह वाज़ेह हो गया कि मुल्क का यह अहम तरीन तबका गहरी तबाही के मुहाने पर खड़ा है।

रंगनाथ मिश्रा कमीशन और हुकूक की तारीखी सिफारिशात

जस्टिस सच्चर की दस्तावेज़ ने जब मुल्क के सामने मुसलमानों की मआशी, सामाजी और तालीमी पसमंदगी का नंगा सच पेश कर दिया, तो इस खौफनाक बीमारी का इलाज तलाश करना भी मुल्क की जम्हूरी रियासत की बुनियादी ज़िम्मेदारी बन गई। महज़ बीमारी की तशखीस कर लेना काफी नहीं होता, बल्कि उस बीमारी से उबरने के लिए माकूल और मुकम्मल दवा की फराहमी भी लाज़िमी होती है। इसी अज़ीम और तारीखी मक़सद के तहत मुल्क के साबिक चीफ जस्टिस, जस्टिस रंगनाथ मिश्रा की कयादत में मज़हबी और लिसानी अकलियतों के लिए जो कौमी कमीशन तश्कील दिया गया था, उसने अपना काम निहायत गहराई, संजीदगी और दस्तूरी हकायक की रौशनी में अंजाम दिया। इस कमीशन का असल मक़सद सिर्फ़ हालात का जायज़ा लेना नहीं था, बल्कि मुल्क के दबे-कुचले अकलियती तबकात, खास तौर पर मुसलमानों को मआशी और सामाजी पसमंदगी के उस गार से बाहर निकालने के लिए मुकम्मल, ठोस और कानूनी सिफारिशात पेश करना था। मई दो हज़ार सात में जब रंगनाथ मिश्रा कमीशन ने अपनी मुकम्मल दस्तावेज़ हुकूमत के सामने पेश की, तो उसने मुल्क की तारीख में हुकूक की बहाली के लिए एक नए इंकलाब की बुनियाद रख दी।

इस कमीशन ने मुकम्मल दलीलों और आदाद-ओ-शुमार के साथ यह साबित किया कि मुल्क में मुसलमानों की पसमंदगी किसी आम सामाजी मसले का नतीजा नहीं है, बल्कि यह एक मुसलसल और मुनज़्जम नज़रअंदाज़ी का खौफनाक फल है। इसलिए, उन्हें इस दलदल से निकालने के लिए सिर्फ कागज़ी हमदर्दी या मामूली वज़ीफों की ज़रूरत नहीं है, बल्कि मुल्क के आईन और दस्तूर के दायरे में रहते हुए उन्हें हुक्मत के निज़ाम में बाज़ाब्ता और कानूनी हिस्सेदारी देनी होगी।

इस कमीशन की सबसे पहली, सबसे अहम और तारीखी सिफारिश सरकारी मुलाज़मतों और तालीमी इदारों में हिस्सेदारी यानी रिज़र्वेशन के हवाले से थी। कमीशन ने अपनी दस्तावेज़ में निहायत मज़बूती के साथ यह लिखा कि मुल्क की तमाम अकलियतों को तालीम और सरकारी रोज़गार में पंद्रह फीसद हिस्सेदारी फराहम की जानी चाहिए। लेकिन इस सिफारिश का सबसे अहम पहलू यह था कि कमीशन ने मुल्क में मुसलमानों की खौफनाक मआशी और तालीमी बदहाली को देखते हुए यह वाज़ेह हिदायत दी कि इस पंद्रह फीसद में से दस फीसद हिस्सेदारी मुकम्मल तौर पर सिर्फ और सिर्फ मुसलमानों के लिए मखसूस होनी चाहिए। कमीशन ने दलील दी कि चूंकि मुल्क की कुल आबादी में मुसलमानों का तनासुब लगभग चौदह फीसद के करीब है और उनकी पसमंदगी मुल्क के तमाम तबकात से ज़्यादा संगीन हो चुकी है, इसलिए उन्हें रोज़गार और तालीम में कम से कम दस फीसद की यकीनी हिस्सेदारी दिए बिना मुल्क की तरक्की का कोई भी ख्वाब मुकम्मल नहीं हो सकता। यह सिफारिश मुल्क की तारीख में मुसलमानों के हुक्क की बहाली का सबसे बड़ा और मोतबर कानूनी दस्तावेज़ बन गई। इसके बाद, रंगनाथ मिश्रा कमीशन ने मुल्क के दस्तूर और आईन में मौजूद एक ऐसी खौफनाक नाइंसाफी और तास्सुब पर गहरी चोट की, जिसका शिकार मुसलमान और ईसाई सदियों से होते आ रहे थे। मुल्क के दस्तूर की दफा तीन सौ इकतालीस के तहत जो इब्तिदाई हुक्मनामा जारी किया गया था, उसने मुल्क में मज़हब की बुनियाद पर एक निहायत ही ज़हरीली दीवार खड़ी कर दी थी। इस दस्तूरी हुक्मनामे के तहत मुल्क में दलित और पसमंदा होने का कानूनी हक सिर्फ हिंदू, सिख और बौद्ध मज़हब के लोगों को दिया गया था, जबकि अगर कोई मुसलमान या ईसाई उसी सामाजी, मआशी और पेशेवराना पसमंदगी का शिकार हो, तो महज़ उसके मज़हब की वजह से उसे दलितों को मिलने वाले दस्तूरी हुक्क से महरूम कर दिया जाता था।

रंगनाथ मिश्रा कमीशन ने इस नाइंसाफी को मुकम्मल तौर पर आईन के बुनियादी हुकूक के खिलाफ करार दिया। कमीशन ने अपनी सिफारिश में निहायत बेबाकी से यह लिखा कि मज़हब की बुनियाद पर सामाजी पसमंदगी का फैसला करना दस्तूर की रूह के मुकम्मल खिलाफ है। जो पसमंदगी और छुआछूत मुल्क के हिंदू दलित तबके ने बर्दाश्त की है, बिल्कुल उसी किस्म की सामाजी और पेशेवराना हिकारत का सामना मुस्लिम मुआशरे के उन तबकात ने भी किया है जो सफाई, चमड़े के काम, कपड़े बुनने या दीगर छोटे पेशों से जुड़े हुए हैं। इसलिए, कमीशन ने हुकूमत को यह साफ हिदायत दी कि दस्तूर से मज़हब की इस पाबंदी को मुकम्मल तौर पर खत्म किया जाए और दलित मुसलमानों और दलित ईसाइयों को भी वही कानूनी हुकूक फराहम किए जाएं जो मुल्क के दीगर दलित तबकात को हासिल हैं। यह सिफारिश मुल्क के उन लाखों पसमंदा मुसलमानों के लिए एक बहुत बड़ी उम्मीद की किरन थी जो पीढ़ियों से सामाजी ज़िल्लत और मआशी तबाही का शिकार थे।

इन दो बड़ी और अहम सिफारिशों के अलावा, रंगनाथ मिश्रा कमीशन ने मुल्क के माली निज़ाम और बुनियादी सहूलियात के हवाले से भी निहायत अहम तजवीज़ात पेश कीं। कमीशन ने लिखा कि मुल्क के माली इदारों और सरकारी बैंकों को यह पाबंद किया जाना चाहिए कि वह अपने कुल कर्ज़ का कम से कम पंद्रह फीसद हिस्सा अकलियतों, खास तौर पर मुसलमानों के कारोबार, दस्तकारी और हुनरमंदी को फराहम करें। जिन मुस्लिम बस्तियों और मोहल्लों में हुकूमत ने जान-बूझकर स्कूल और सेहत के मरकज़ कायम नहीं किए हैं, वहां फौरी तौर पर खुसूसी मंसूबों के तहत तालीमी इदारे खोले जाएं और उन्हें मुल्क की आम तरक्की के धारे से जोड़ा जाए। मदरसा तालीम को जदीद दुनिया से जोड़ने के लिए कमीशन ने यह भी सिफारिश की कि मदरसों की डिग्रियों को मुल्क की आम यूनिवर्सिटियों और सरकारी मुलाज़मतों के लिए मुकम्मल तौर पर तस्लीम किया जाए ताकि मदरसे से निकलने वाला नौजवान खुद को रोज़गार के मैदान में तन्हा महसूस न करे।

जस्टिस रंगनाथ मिश्रा कमीशन की यह दस्तावेज़ महज़ कुछ पन्नों का पुलिंदा नहीं थी, बल्कि यह हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए इंसाफ और तरक्की का एक मुकम्मल और बाज़ाब्ता आईनी खाका था। इस कमीशन ने हुक्मरानों के सामने यह बात वाज़ेह कर दी थी कि अगर अब भी मुसलमानों को उनके जायज़ और कानूनी हुकूक नहीं दिए गए, तो मुल्क की जम्हूरियत पर हमेशा के लिए एक बदनुमा दाग लग जाएगा।

इस दस्तावेज़ ने अवाम में यह उम्मीद जगा दी थी कि अब मुल्क का निज़ाम उनके ज़ख्मों पर मरहम रखने के लिए तैयार है। लेकिन सियासत के ऐवानों में इस दस्तावेज़ और इसकी अहम तरीन सिफारिशों के साथ जो मुजरिमाना और फरेब पर मबनी सुलूक किया गया, वह मुल्क की सियासी तारीख का एक ऐसा स्याह बाब है जिसे हम अगले हिस्से में पूरी कड़वाहट और हकायक के साथ बयान करेंगे।

तारीखी दस्तावेज़ों का हश्र और हुकूमतों की मुजरिमाना खामोशी

जब जस्टिस राजिंदर सच्चर और जस्टिस रंगनाथ मिश्रा की कयादत में तैयार होने वाली यह मुकम्मल और हकायक पर मबनी दस्तावेज़ात मुल्क के हुक्मरानों की मेज़ पर पहुंचीं, तो हिंदुस्तानी मुसलमानों के दिलों में उम्मीद की एक नई और मज़बूत किरन पैदा हुई। मुल्क के दबे-कुचले मुसलमान अवाम को यह लगने लगा कि आज़ादी के साठ साल बाद आखिरकार रियासत के ज़मीर ने उनकी चीखें सुन ली हैं। पहली बार उनके दर्द, उनकी मआशी तबाही और उनकी तालीमी पसमंदगी को किसी सियासी तकरीर के बजाय मुल्क की सबसे मोतबर सरकारी दस्तावेज़ में तस्लीम किया गया था। मुस्लिम मुआशरे के मुफक्किरों, उस्तादों और नौजवानों ने यह महसूस किया कि अब मुल्क के ऐवानों में इन दस्तावेज़ों की बुनियाद पर कानून साज़ी होगी और उन्हें तालीम और रोज़गार में उनका छीना हुआ हक़ बाज़ाब्ता तौर पर वापस मिल जाएगा। लेकिन यह उम्मीद मुल्क की सियासी तारीख के सबसे बड़े और खौफनाक फरेब का शिकार होने वाली थी। इन दस्तावेज़ों के मंज़र-ए-आम पर आते ही मुल्क की सियासी फज़ा में एक खौफनाक ज़लज़ला आ गया। वह सियासी जमातें और तंज़ीमें जिनका पूरा वजूद ही मज़हबी नफरत और अक्सरियत परस्ती पर कायम था, उन्होंने फौरन इन दस्तावेज़ों के खिलाफ एक निहायत ज़हरीली और मुनज़्ज़म मुहिम छेड़ दी। मुल्क के गली-कूचों और मुवासलाती ज़राए में यह झूठा नैरेटिव फैलाया जाने लगा कि यह दस्तावेज़ात मुल्क को बांटने की साज़िश हैं और हुकूमत मुसलमानों को खुश करने के लिए अक्सरियत का हक़ छीनना चाहती है। हालांकि यह दस्तावेज़ात किसी सियासी फायदे के लिए नहीं बल्कि मुल्क के आईन और इंसाफ के तकाज़ों को पूरा करने के लिए तैयार की गई थीं, लेकिन नफरत के इस शोर में हकायक की आवाज़ को मुकम्मल तौर पर दबाने की कोशिश की गई। इस खौफनाक शोर का सबसे ज़्यादा और सीधा असर उन सियासी जमातों पर पड़ा जो खुद को गैर-मज़हबी और मुसलमानों का सबसे बड़ा हमदर्द होने का दावा करती थीं।

यहीं से मुल्क की उन गैर-मज़हबी और बड़ी सियासी जमातों की मुजरिमाना खामोशी और बुज़दिली का आगाज़ होता है, जिनके हाथों में उस वक़्त हुकूमत की बागडोर थी। जिन हुक्मरानों ने मुसलमानों के वोटों की बुनियाद पर अपने इक्तेदार के महल खड़े किए थे, वह रंगनाथ मिश्रा कमीशन की सिफारिशात को नाफिज़ करने के नाम पर खौफज़दा हो गए। उन्हें यह डर सताने लगा कि अगर उन्होंने मुसलमानों को तालीम और रोज़गार में दस फीसद की यकीनी हिस्सेदारी दे दी, या दलित मुसलमानों को उनका दस्तूरी हक़ फराहम कर दिया, तो मुल्क की अक्सरियत उनसे नाराज़ हो जाएगी और वह अगले इंतखाबात में अपनी कुर्सियां खो बैठेंगे। हुकूमतों ने मुल्क के आईन, इंसाफ और एक अज़ीम तबके की मआशी बका को अपनी इंतखाबी सियासत के तराजू में तौला, और इस सौदेबाज़ी में इंसाफ मुकम्मल तौर पर हार गया। बजाय इसके कि हुकूमत मुल्क की सबसे बड़ी कानून साज़ मजलिस (ऐवान) में इन सिफारिशात को कानूनी शक्ल देने के लिए कोई बाज़ाब्ता बिल पेश करती, हुक्मरानों ने सियासत का सबसे पुराना और फरेब पर मबनी रास्ता इख्तियार किया। इन आला सती दस्तावेज़ों को खामोशी के साथ ठंडे बस्ते में डाल दिया गया। हकायक को उलझाने और वक़्त गुज़ारने के लिए हुकूमत ने उन दस्तावेज़ों का जायज़ा लेने के नाम पर मज़ीद नई छोटी मजलिसें और कमेटियां बना दीं।

सालों साल गुज़रते रहे, लेकिन न तो रंगनाथ मिश्रा कमीशन की हिस्सेदारी वाली सिफारिश पर कोई फैसला लिया गया और न ही दफा तीन सौ इकतालीस से मज़हब की पाबंदी हटाने के लिए कोई कानूनी कदम उठाया गया। मुसलमानों की असल और बुनियादी ज़रूरतों को मुकम्मल तौर पर नज़रअंदाज़ करके, हुकूमतों ने चंद दिखावटी और सतही फलाही मंसूबों का ऐलान कर दिया। लेकिन सरकारी महकमों के उसी पुराने तास्सुब की वजह से उन कागज़ी मंसूबों का फायदा भी ज़मीनी सतह पर किसी आम मुसलमान तक नहीं पहुँच सका। हुकूमतों की इस मुजरिमाना खामोशी और फरेब ने हिंदुस्तानी मुसलमानों की नफ़्सियात को एक ऐसा गहरा ज़ख्म दिया जिसका भरना ना-मुमकिन है। जब किसी क़ौम को यह पता चल जाए कि रियासत खुद अपनी ही तैयार की हुई दस्तावेज़ों में उनके साथ होने वाले जुल्म को कुबूल कर चुकी है, लेकिन फिर भी वह उन्हें इंसाफ देने की हिम्मत नहीं रखती, तो उस क़ौम का मुल्क के जम्हूरी निज़ाम से मुकम्मल तौर पर एतमाद उठ जाता है।

मुसलमान नौजवानों ने यह कड़वी हकीकत तस्लीम कर ली कि मुल्क के ऐवानों में उनकी पसमंदगी पर झूठे आंसू तो बहाए जा सकते हैं, लेकिन उन्हें बराबरी का हक देने के लिए कोई भी सियासी जमात अपनी कुर्सी दांव पर लगाने को तैयार नहीं है। इस सियासी फरेब ने मुसलमानों को एक अजीब सी बेबसी और यतीमपन के हवाले कर दिया।

इन तारीखी दस्तावेज़ों का यह दर्दनाक हथ्र मुल्क की आज़ाद तारीख का वह स्याह बाब है जो हमेशा हुक्मरानों की नियत पर सवाल खड़े करता रहेगा। जब रियासत अपने ही शहरियों को मआशी और तालीमी इंसाफ फराहम करने से मुकर जाए, तो मुआशरे में सिर्फ गुरबत ही नहीं पनपती, बल्कि समाजी ताने-बाने में भी शदीद कमज़ोरी पैदा होती है। मआशी बेबसी और सियासी लाचारी के इस खौफनाक दलदल ने मुसलमानों को सामाजी तौर पर भी निहायत गैर-महफूज़ कर दिया। इंसाफ की इस मुकम्मल नाकामी के बाद, ज़मीनी सतह पर आम मुसलमान को अपनी हिफाज़त और मुआशरे में ज़िंदा रहने के लिए किन खौफनाक मसाइल और फसादात का सामना करना पड़ा, यह हमारी किताब का अगला और निहायत ही दर्दनाक मौजू है।

दसवां बाब: सामाजी और हिफाज़ती मसाइल: फसादात, हिफाज़त का एहसास और सामाजी इंसाफ

तक्रसीम का साया और फसादात का खौफनाक आगाज़

हिंदुस्तान की आज़ादी और उसकी तक्रसीम का वाकया महज़ ज़मीन के दो टुकड़ों में बंट जाने का नाम नहीं था, बल्कि यह मुल्क की तारीख का वह सबसे गहरा और रिसता हुआ ज़ख्म था जिसका सबसे ज़्यादा दर्द हिंदुस्तानी मुसलमानों को बर्दाश्त करना पड़ा। जब मुल्क का बंटवारा हुआ, तो जो मुसलमान अपने आबा-ओ-अजदाद की ज़मीन, अपनी तहज़ीब और अपनी मिट्टी की मुहब्बत में हिंदुस्तान में ही रुक गए, उन्होंने दरअसल अपने अमल से मज़हब की बुनियाद पर बनने वाले मुल्क के नज़रिए को मुकम्मल तौर पर मुस्तरद कर दिया था। यह उनका अपनी मादर-ए-वतन के साथ वफादारी का सबसे बड़ा और अज़ीम सुबूत था। लेकिन मुल्क की अक्सरियत परस्त और नफरत फैलाने वाली ताक़तों ने उनके इस अज़ीम फैसले को कभी तस्तीम नहीं किया। आज़ादी के फौरन बाद, मुल्क की तामीर और तरक्की के बजाय, एक सोची-समझी ज़हनीयत के तहत मुसलमानों को मुसलसल शक और नफरत की निगाह से देखा जाने लगा। तक्रसीम का वह खौफनाक साया एक ऐसे ज़हरीले फरेब में तब्दील हो गया जिसने मुल्क में रहने वाले हर आम मुसलमान को तौहीन और खौफ के मुसलसल अज़ाब में मुब्तिला कर दिया। आज़ादी के बाद जब मुल्क में जम्हूरियत और आईन का निज़ाम कायम हो रहा था, उसी वक़्त मुल्क के मुख्तलिफ हिस्सों में फसादात का एक निहायत ही खौफनाक और मुनज़ज़म सिलसिला शुरू कर दिया गया। यह फसादात कोई अचानक भड़क उठने वाले जज़्बाती वाकियात नहीं थे, बल्कि यह एक निहायत ही गहरी और मुनज़ज़म साज़िश का हिस्सा थे। इनका असल मक़सद मुसलमानों को यह एहसास दिलाना था कि इस मुल्क में उनकी हैसियत अब दोयम दर्जे के शहरियों की है और उन्हें मुसलसल खौफ के साए में ज़िंदगी गुज़ारनी होगी। छोटी-छोटी बातों, झूठी अफवाहों या किसी मामूली तनाज़े को बहाना बनाकर पूरी की पूरी मुस्लिम बस्तियों को आग के हवाले कर दिया जाता। मुल्क के वह शहर जो कभी गंगा-जमुनी तहज़ीब और भाईचारे का मरकज़ हुआ करते थे, वहां अचानक नफरत की ऐसी आंधियां चलने लगीं जिन्होंने इंसानी रिश्तों और सामाजी ताने-बाने को मुकम्मल तौर पर तार-तार कर दिया।

इन फसादात ने आम मुसलमान की ज़िंदगी को एक ऐसे खौफनाक मुहासरे में तब्दील कर दिया जहां वह अपने ही घर और अपने ही मुल्क में खुद को गैर-महफूज़ महसूस करने लगा।

इन फसादात का सिर्फ एक मक़सद इंसानी जानों का नुकसान नहीं था, बल्कि इसके पीछे एक बहुत बड़ी मआशी साज़िश भी मुकम्मल तौर पर काम कर रही थी। नफरत फैलाने वाली ताक़तें इस बात को अच्छी तरह जानती थीं कि किसी भी क़ौम को मुकम्मल तौर पर तबाह करने के लिए उसकी मआशी कमर तोड़ना सबसे ज़्यादा लाज़िमी है। चुनांचे, फसादात के दौरान जान-बूझकर मुसलमानों के कारोबार, उनके कारखानों, उनकी दुकानों और उनके गोदामों को निशाना बनाया गया। जब भी मुल्क के किसी शहर में मुसलमान दस्तकार या ताजिर अपनी खून-पसीने की मेहनत से अपने कारोबार को खड़ा करने की कोशिश करते, तो अचानक फसाद भड़का कर उनकी बरसों की मेहनत को एक ही रात में राख के ढेर में तब्दील कर दिया जाता। मुरादाबाद के पीतल के कारखाने हों, भिवंडी के करघे हों, या मेरठ और अलीगढ़ के छोटे सनअती इदारे, हर जगह फसादात की आग ने मुसलमानों के सरमाये को मुकम्मल तौर पर भस्म कर दिया। यह मआशी तबाही इतनी खौफनाक थी कि इसके बाद कई नस्लें दोबारा कभी अपना कारोबार खड़ा करने की हिम्मत नहीं कर सकीं। फसादात के इस मुनज़ज़म और मुसलसल सिलसिले ने हिंदुस्तानी मुसलमानों की नफ़्सियात पर ऐसा गहरा और जानलेवा वार किया जिसने उनके हौसले मुकम्मल तौर पर पस्त कर दिए। जब किसी इंसान को मुसलसल अपनी जान, अपने कुनबे की इज़्ज़त और अपने माल की फिक्र सताने लगे, तो उसके ज़हन से आला तालीम, बड़ी मुलाज़मतों और तरक्की के ख्वाब खुद-ब-खुद मिट जाते हैं। एक मुसलमान नौजवान जो मुल्क की तरक्की में अपना किरदार अदा करना चाहता था, वह सिर्फ इस खौफ में मुब्तिला रहने लगा कि कहीं कोई फसाद उसकी और उसके कुनबे की ज़िंदगी न निगल जाए। इस नफ़्सियाती खौफ ने मुसलमानों को मुल्क के आम सामाजी धारे से काट कर एक खामोश और बेबस तबके में तब्दील कर दिया। वह अपने जायज़ हुकूक मांगने के बजाय सिर्फ रियासत से अपनी जान बख़्शी की दुआएं मांगने लगे।

यह फसादात सिर्फ गुंडों या नफरत फैलाने वाले चंद लोगों की कामयाबी नहीं थे, बल्कि यह मुल्क के हिफाज़ती निज़ाम और रियासती मशीनरी की सबसे खौफनाक नाकामी का सुबूत थे। मुल्क की तारीख में होने वाले ज़्यादातर फसादात में मजलूम को बचाने के बजाय रियासत के मुहाफिज़ों का रवैया जिस कदर तास्सुब से भरा रहा, उसने मुसलमानों के दिलों में हुकूमत और कानून के तई मुकम्मल अदम-एतमाद पैदा कर दिया। रियासत की इसी खामोशी और हिफाज़ती दस्तों की इसी तरफदारी का खौफनाक जायज़ा लेना हमारे लिए बेहद ज़रूरी है, जिसे हम अगले हिस्से में पूरी तफ़सील और हकायक के साथ बेनकाब करेंगे।

हुकूमती अमले की नाकामी और निज़ाम की मुज़रमाना तरफदारी

किसी भी जम्हूरी रियासत का सबसे बुनियादी और मुकद्दस फरीज़ा अपने शहरियों की जान, माल और उनकी इज़्ज़त-ओ-आबरू की हिफाज़त करना होता है। जब मुल्क के किसी हिस्से में अमन-ओ-अमान खतरे में पड़ता है, तो अवाम की नज़रें रियासत के उन हिफाज़ती दस्तों और सरकारी इंतज़ामिया की तरफ उठती हैं, जिन पर कानून के निफाज़ की ज़िम्मेदारी आयद होती है। लेकिन हिंदुस्तानी मुसलमानों की तारीख इस बात की गवाह है कि फसादात के दौरान मुल्क के हिफाज़ती इदारों और सरकारी इंतज़ामिया का रवैया अक्सर निहायत ही सर्द, तास्सुब से भरा और मुज़रमाना हद तक तरफदार रहा। जब किसी मुस्लिम बस्ती या मोहल्ले पर नफरत में अंधे हुजूम की तरफ से हमला किया जाता, तो रियासत का वह अमला जो अवाम की हिफाज़त के लिए मुकर्रर था, अक्सर खामोश तमाशाई बना रहता। यह कोई इत्तेफाकी नाकामी नहीं थी, बल्कि यह उस ज़हरीली ज़हनीयत का ज़मीनी सुबूत था जिसके तहत कानून नाफिज़ करने वालों के दिलों में भी एक खास तबके के खिलाफ नफरत के बीज बो दिए गए थे। फसादात के दौरान इंतज़ामिया की तरफदारी का सबसे खौफनाक नज़ारा उस वक़्त देखने को मिलता जब बलवाइयों को रोकने के लिए फौरी और सख्त कदम उठाने की शदीद ज़रूरत होती। मुल्क की तारीख में होने वाले बड़े फसादात का अगर गहराई से जायज़ा लिया जाए, तो यह कड़वी हकीकत सामने आती है कि सरकारी इंतज़ामिया ने जान-बूझकर पाबंदियां नाफिज़ करने और हालात पर काबू पाने में ताखीर की। फसादियों को बस्तियां जलाने, कारोबार तबाह करने और मासूम जानों से खेलने का मुकम्मल मौका फराहम किया गया।

हिफाज़ती दस्तों की गाड़ियां अक्सर उन मोहल्लों में उस वक़्त पहुंचतीं जब तबाही का मुकम्मल खेल खेला जा चुका होता। कई मर्तबा तो ऐसा भी हुआ कि हुजूम सरकारी मुहाफिज़ों की मौजूदगी में हमले करता रहा, और वह खामोशी से खड़े मुल्क के आईन और कानून की धज्जियां उड़ते हुए देखते रहे। जब मुहाफिज़ ही ज़ालिमों की पुश्त पनाही करने लगे, तो मजलूम के लिए बचने का कोई भी रास्ता बाकी नहीं रहता।

इस हुकूमती तरफदारी का दूसरा और सबसे ज़्यादा खौफनाक रुख फसाद के दौरान और उसके फौरन बाद मुसलमानों को निहत्था करने की साज़िश थी। जब फसाद भड़कता, तो हिफाज़ती अमला सबसे पहले मुस्लिम मोहल्लों में तलाशी की मुहिमचलाता और उनके पास मौजूद हिफाज़त के मामूली ज़राए भी ज़ब्त कर लेता। एक तरफ तो हमलावर हुजूम को हथियारों के साथ खुलेआम घूमने की मुकम्मल आज्ञा दी जाती, और दूसरी तरफ जिन पर हमला हो रहा होता, उन्हें रियासत की ताक़त का इस्तेमाल करके मुकम्मल तौर पर निहत्था और बेबस कर दिया जाता। यह एक ऐसा दोहरा मेयार था जिसने मुसलमानों के दिलों में रियासत के मुंसिफाना किरदार पर मुकम्मल अदम-एतमाद पैदा कर दिया। उन्होंने यह महसूस कर लिया कि जिस निज़ाम को उनकी हिफाज़त करनी चाहिए थी, वह खुद उनकी तबाही के मंसूबों में बराबर का शरीक हो चुका है। जुल्म की यह दास्तान फसाद के खात्मे पर मुकम्मल नहीं होती थी, बल्कि असल नफ्सियाती और कानूनी जुल्म का आगाज़ तो फसाद रुकने के बाद होता था। जब अमन कायम करने के नाम पर गिरफ्तारियों का सिलसिला शुरू होता, तो इंतज़ामिया का तास्सुब मुकम्मल तौर पर बेनकाब हो जाता। जिन मजलूमों के घर जलाए गए होते, जिनके कुनबों का कत्ल हुआ होता और जिनकी बरसों की मआशी मेहनत खाक में मिला दी गई होती, इंतज़ामिया उन्हीं के नौजवानों को गिरफ्तार करके सलाखों के पीछे डाल देता। बलवाइयों और असल मुज़रिमों को खुला छोड़ दिया जाता, जबकि मजलूम तबके के नौजवानों पर फसाद भड़काने के झूठे मुकद्दमात कायम कर दिए जाते। यह दरअसल मुल्क के मुसलमान नौजवानों के मुस्तकबिल को तबाह करने का एक बहुत बड़ा और खामोश हथियार था। झूठे मुकद्दमात में उलझने के बाद एक नौजवान की तालीम, उसका रोज़गार और उसकी पूरी ज़िंदगी अदालत के चक्कर काटते हुए बर्बाद हो जाती।

रियासती मशीनरी की इस मुसलसल नाकामी और तरफदारी ने मुल्क के मुसलमानों को सामाजी और नपसियाती तौर पर निहायत गहरे ज़ख्म दिए। जब रियासत का मुहाफिज़ ही ज़ालिम का मददगार बन जाए, तो अवाम के पास इंसाफ मांगने के लिए कोई दरवाज़ा बाकी नहीं रहता। इस ना-इंसाफी और खौफ ने मुसलमानों को एक ऐसी सामाजी तब्दीली पर मजबूर कर दिया जिसका मुल्क की जम्हूरियत पर बहुत गहरा असर पड़ा। अपनी जान और अपनी नई नस्ल की इज़्ज़त बचाने की खातिर मुसलमानों ने अपने आबाई मोहल्लों को छोड़ कर घनी और अलग-थलग बस्तियों में पनाह लेना शुरू कर दिया। और यही वह खौफनाक सामाजी तक्सीम है जिसका हम अगले हिस्से में मुकम्मल तजज़िया करेंगे।

खौफ का असर और बस्तियों की मुकम्मल तक्सीम

मुसलसल फसादात, जान-ओ-माल के खौफनाक नुकसान और रियासती अमले की मुज़रमाना बेरुखी ने हिंदुस्तानी मुसलमानों के ज़हनों में एक ऐसा गहरा खौफ और खदशा पैदा कर दिया, जिसने मुल्क के सामाजी ताने-बाने को मुकम्मल तौर पर तक्सीम करके रख दिया। इंसान फितरी तौर पर उसी जगह सुकून महसूस करता है जहां उसकी जान, माल और आबरू महफूज़ हो। जब मुल्क के उन शहरों और मोहल्लों में, जहां सदियों से मुख्तलिफ मज़ाहिब के लोग एक साथ मिलकर भाईचारे के साथ ज़िंदगी गुज़ार रहे थे, अचानक नफरत की दीवारें खड़ी कर दी गईं, तो आम मुसलमान के लिए अपने आबाई घरों में रहना मुहाल हो गया। अपनी नई नस्ल की हिफाज़त और औरतों की इज़्ज़त बचाने की खातिर, मुसलमानों को उन रिहाइशी इलाकों से हिजरत करने पर मजबूर कर दिया गया जहां उनके आबा-ओ-अजदाद की कब्रें और उनकी तहज़ीब की निशानियां मौजूद थीं। यह कोई खुशी का सफर नहीं था, बल्कि एक ऐसी दर्दनाक और खामोश हिजरत थी जिसने मुल्क के हर बड़े शहर के अंदर एक गैर-दिखाई देने वाली और नफरत से भरी सरहद खींच दी। इस मुसलसल खौफ का साया इतना गहरा था कि मुसलमानों ने अपने शानदार, पुश्तैनी और कुशादा घरों को निहायत ही औने-पौने दामों में फरोख्त कर दिया या उन्हें हमेशा के लिए वीरान छोड़ दिया। उन्होंने सिर्फ इस उम्मीद पर घनी और महदूद मुस्लिम आबादी वाले इलाकों में पनाह ली कि शायद वहां नफरत में अंधे हुजूम का हमला न हो सके और वह अपनों के दरमियान खुद को महफूज़ रख सकें। इस तरह मुल्क के हर शहर में मुसलमानों की अलग-थलग बस्तियां वजूद में आने लगीं।

इन बस्तियों में आबादी का दबाव इस कदर बढ़ गया कि वहां सांस लेने की जगह भी मुहाल हो गई। एक छोटे से मकान में कई-कई कुनबे पनाह लेने पर मजबूर हो गए। हिफाज़त की इस शदीद जद्दोज़हद ने मुसलमानों को एक ऐसे सामाजी मुहासरे में कैद कर दिया जहां से बाहर की दुनिया उनके लिए मुकम्मल तौर पर अजनबी और खौफनाक हो गई।

जब कोई क़ौम मुसलसल खौफ के साए में किसी एक इलाके में सिमट जाती है, तो रियासत का तास्सुब भी उन इलाकों के साथ मुकम्मल तौर पर जुड़ जाता है। हुकूमतों ने इन नई और घनी मुस्लिम बस्तियों को शहर की आम तरक्की और मंसूबा बंदी से मुकम्मल तौर पर काट दिया। इन इलाकों में न तो पक्की सड़कें बनाई गईं, न पीने के साफ पानी का माकूल इंतज़ाम किया गया, और न ही सेहत और तालीम के बुनियादी मरकज़ कायम किए गए। यह बस्तियां आहिस्ता-आहिस्ता जहालत, बीमारी और पसमंदगी का मरकज़ बन गईं। शहर के बलदियाती इदारों और हुकूमती महकमों ने इन इलाकों को जान-बूझकर नज़रअंदाज़ किया। कूड़े के ढेर, उबलते हुए गंदे नाले और खस्ताहाल मकान इन बस्तियों की पहचान बन गए। हिफाज़त की तलाश में जो तबका इन मोहल्लों में आया था, वह रियासत की बेरुखी की वजह से मुकम्मल तौर पर एक गंदी और अज़ाब से भरी ज़िंदगी गुज़ारने पर मजबूर कर दिया गया।

इस सामाजी तक्सीम और बस्तियों के अलग-थलग हो जाने का सबसे खौफनाक नुकसान मुल्क की कौमी यकजहती को उठाना पड़ा। जब दो तबकात एक-दूसरे से कट कर अलग-अलग बस्तियों में रहने लगे, तो उनके दरमियान बातचीत, हमदर्दी और एक-दूसरे को समझने का अमल मुकम्मल तौर पर रुक जाता है। मुसलमानों के इन अलग-थलग मोहल्लों में सिमट जाने की वजह से, मुल्क की अक्सरियत के दरमियान मुसलमानों के हवाले से तरह-तरह की गलतफहमियां और नफरतें मज़ीद आसानी से फैलाई जाने लगीं। मुल्क की मुवासलाती ताक़तों ने इन बस्तियों को ज़रायम का मरकज़ और मुल्क के लिए खतरा बताकर अवाम के ज़हनों में मुसलसल ज़हर घोला। एक आम शहरी जो कभी किसी मुसलमान से मिला ही नहीं, वह भी इन बस्तियों की तरफ शक और खौफ की निगाह से देखने लगा। इस सामाजी दुराव ने मुल्क के मुआशरे में एक ऐसी खलीज पैदा कर दी जिसे पाटना अब तकरीबन ना-मुमकिन हो चुका है।

सबसे बड़ा और खौफनाक जुल्म इन बस्तियों में पलने वाली नई नस्ल के साथ हुआ। वह बच्चे जिन्होंने अपनी पैदाइश से लेकर जवानी तक सिर्फ अपनी ही बस्ती की खस्ताहाल गलियां देखीं और मुल्क के दीगर तबकात के साथ जिनका कोई राब्ता ही नहीं हुआ, उनके ज़हनों में मुल्क के मुकम्मल सामाजी निज़ाम के तई एक अजीब सी बेगानगी पैदा हो गई। जब यह नौजवान तालीम या रोज़गार के लिए अपनी बस्ती से बाहर कदम रखते, तो उन्हें कदम-कदम पर तास्सुब, तौहीन और बेरुखी का सामना करना पड़ता। खौफ और हिफाज़त के एहसास ने मुसलमानों को जो सामाजी ज़ख्म दिए, उन्होंने उनकी पूरी नस्ल को मुल्क के अहम धारे से मुकम्मल तौर पर बेदखल कर दिया। लेकिन जब इन मजलूमों ने अपने साथ होने वाली ना-इंसाफियों के खिलाफ अदालत और कानून का दरवाज़ा खटखटाया, तो वहां भी उन्हें एक नई मायूसी का सामना करना पड़ा। और यही वह सामाजी इंसाफ का फरेब है जिसका ज़िक्र हम अगले हिस्से में पूरी तफ़सील के साथ करेंगे।

सामाजी इंसाफ का फरेब और अदालती जद्दोजहद

जब फसादात की आग ठंडी हो जाती है और मजलूम अपने जले हुए आशियानों की राख समेटते हैं, तो उनकी आखिरी उम्मीद मुल्क के अदालती निज़ाम और सामाजी इंसाफ के ऐवानों से वाबस्ता होती है। एक जम्हूरी मुल्क में अदालत ही वह वाहिद दरवाज़ा है जहां कमज़ोर और मजलूम तबका ताक़तवर ज़ालिम के खिलाफ फरियाद लेकर जाता है। लेकिन हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए फसादात के बाद इंसाफ के हुसूल की यह जद्दोजहद भी एक ऐसे खौफनाक फरेब में तब्दील कर दी गई, जिसने उनके बच्चे-खुचे हौसले भी मुकम्मल तौर पर तोड़ दिए। अपने प्यारों को खोने और उम्र भर की मआशी कमाई लुट जाने के बाद, जब यह मजलूम अदालत की दहलीज़ पर इंसाफ मांगने पहुंचे, तो उन्हें वहां भी रियासती तास्सुब और कानूनी पेचीदगियों के एक ऐसे जाल में उलझा दिया गया, जहां से मुज़रिमों को सज़ा मिलना तकरीबन ना-मुमकिन हो गया। फसादात के बाद सबसे पहला फरेब तहकीकाती मजलिसों के कयाम के नाम पर किया जाता है। हुकूमतें अवाम का गुस्सा ठंडा करने और दुनिया को अपनी इंसाफ परवरी का दिखावा करने के लिए आला सती मजलिसें तश्कील दे देती हैं। यह मजलिसें सालों तक गवाहियां दर्ज करती हैं, दस्तावेज़ात खंगालती हैं और सरकारी खज़ाने से भारी रकम खर्च करती हैं।

लेकिन यह सब महज़ एक कागज़ी खेल साबित होता है। जब सालों बाद यह मजलिसें अपनी मुकम्मल दस्तावेज़ हुक्मत को पेश करती हैं, तो अक्सर हुक्मरान उन रिपोर्टों को अवाम के सामने लाने से ही इंकार कर देते हैं। अगर किसी मजबूरी के तहत वह दस्तावेज़ मंज़ूर-ए-आम पर आ भी जाए और उसमें फसाद भड़काने वाले असल मुजरिमों, सियासतदानों और तरफदार मुहाफिज़ों के नाम वाज़ेह तौर पर लिखे हों, तो भी हुक्मतें उनके खिलाफ कोई कानूनी कार्रवाई नहीं करतीं। तहकीकात के इस तवील और फरेब पर मबनी सिलसिले का असल मक़सद मजलूमों को इंसाफ देना नहीं, बल्कि वक़्त गुज़ार कर उनके ज़ख्मों और उनकी चीखों को खामोश करना होता है। अदालतों में मुकद्मात की पैरवी का अमल तो मजलूमों के लिए एक और नया अज़ाब साबित होता है। फसादात के दौरान हिफाज़ती अमला अक्सर जान-बूझकर मुकद्मात की इब्तिदाई इत्तिलाई रिपोर्ट इस कदर कमज़ोर और खामियों से भरी हुई तैयार करता है कि मुजरिम आसानी से कानूनी गिरफ्त से बाहर निकल जाएं। जब सालों बाद गवाह अदालत में पेश होते हैं, तो उन्हें डराया-धमकाया जाता है, उनकी मआशी गुरबत का फायदा उठाया जाता है, और गवाहियों को तोड़-मरोड़ कर पेश किया जाता है। एक मजलूम बाप जिसके जवान बेटे का क़त्ल हुआ हो, वह सालों तक अपनी ज़मीन और ज़ेवर बेच कर वकीलों की फीसें भरता रहता है, लेकिन आखिर में सुबूतों की कमी का बहाना बनाकर ज़ालिमों को बा-इज़्ज़त बरी कर दिया जाता है। मुल्क की तारीख के कई बड़े और खौफनाक फसादात में मारे जाने वाले हज़ारों बेगुनाहों के कातिल आज भी मुल्क की सड़कों पर आज़ाद घूम रहे हैं और सियासत के ऐवानों में शान से बैठे हैं। यह इंसाफ की मुकम्मल नाकामी नहीं तो और क्या है?

इंसाफ के इस मुसलसल क़त्ल ने मुसलमानों को यह पैगाम दिया है कि मुल्क का कानूनी निज़ाम उनके खून और उनकी आबरू की कोई अहमियत नहीं समझता। जब ज़ालिम को सज़ा का खौफ न रहे और मजलूम को इंसाफ की कोई उम्मीद न बचे, तो मुआशरे में कानून की हुक्मरानी मुकम्मल तौर पर खत्म हो जाती है। अदालतों की दहलीज़ से मुसलसल मायूस लौटने वाले मजलूमों ने रियासत के सामाजी इंसाफ को एक झूठा और खोखला नारा तस्लीम कर लिया है। इस ना-इंसाफी ने मुस्लिम मुआशरे की नई नस्ल के ज़हनों में जो खौफनाक ज़हर घोला है और उन्हें मुल्क के मुस्तकबिल से किस कदर बेगाना कर दिया है, यह इस बाब का सबसे अहम और दर्दनाक पहलू है।

हिफाज़त का बोहरान और नई नस्ल की नफ़्सियात

मुसलसल फसादात, हुकूमती अमले की बेरुखी और अदालतों से मिलने वाली मुसलसल मायूसी ने हिंदुस्तानी मुसलमानों के ज़हनों में हिफाज़त का एक ऐसा शदीद और खौफनाक बोहरान पैदा कर दिया है, जिसका सबसे गहरा असर उनकी आने वाली नई नस्ल की नफ़्सियात पर मुरतब हुआ है। जब कोई बच्चा एक ऐसी सामाजी फ़िज़ा में आंख खोलता है जहां उसके वालिदैन् हर वक़्त किसी ना-मालूम खौफ में मुब्तिला रहते हों, जहां मुहाफिज़ों पर एतमाद खत्म हो चुका हो और जहां हिफाज़त का एहसास मुकम्मल तौर पर छिन गया हो, तो उसकी ज़हनी नशो-नुमा एक आम और आज़ाद शहरी की तरह हरगिज़ नहीं हो सकती। खौफ और तौहीन के इस मुसलसल साए ने नई नस्ल के अंदर एक ऐसी गहरी बेगानगी, मायूसी और एहसास-ए-कमतरी का बीज बो दिया है जिसने उन्हें मुल्क की आम तरक्की और तामीर के सफर से मुकम्मल तौर पर बेदखल कर दिया है।

मुस्लिम बस्तियों की तंग और खस्ताहाल गलियों में परवान चढ़ने वाला नौजवान जब मुल्क के बड़े सामाजी निज़ाम की तरफ देखता है, तो उसे वहां अपना कोई अक्स या कोई हमदर्द नज़र नहीं आता। उसे यह एहसास मुसलसल सताता है कि मुल्क का कानून, हिफाज़ती अमला और सामाजी ढांचा उसकी जान और इज़्ज़त की हिफाज़त के लिए नहीं, बल्कि उसे दबाने और खौफज़दा रखने के लिए बनाए गए हैं। इस शदीद खौफ ने नई नस्ल को एक ऐसे नफ़्सियाती मुहासरे में कैद कर दिया है जहां वह अपने जायज़ हुकूक मांगने और मुल्क के बड़े इदारों में अपनी जगह बनाने के बजाय, सिर्फ अपनी बका और जान बख्शी की जद्दोजहद में उलझ कर रह गए हैं। जो ज़हानत मुल्क के लिए साइंस, अदब, और तरक्की के नए रास्ते खोल सकती थी, वह महज़ अपनी जान और अपनी बस्ती की हिफाज़त की फिक्क में ज़ाया हो रही है। सियासत और मुआशरे के तई इस मुकम्मल अदम-एतमाद ने मुल्क के एक बहुत बड़े इंसानी सरमाये को तबाह कर दिया है। जब एक नौजवान को यह यकीन हो जाए कि उसकी काबलियत, उसकी आला तालीम और उसकी मेहनत उसे किसी फसाद के अंधे हुजूम या रियासत के तास्सुब से महफूज़ नहीं रख सकती, तो उसके अंदर से आगे बढ़ने की तड़प मुकम्मल तौर पर खत्म हो जाती है।

हिफाज़त के इस खौफनाक बोहरान ने मुसलमानों की नई नस्ल को सामाजी और ज़हनी तौर पर इस कदर तन्हा कर दिया है कि वह अपने ही मुल्क में खुद को एक अजनबी और गैर-मुतल्लिक तबका समझने लगे हैं। यह सिर्फ एक क्रौम का नप्सियाती ज़वाल नहीं है, बल्कि यह मुल्क की उस जम्हूरियत की सबसे बड़ी नाकामी है जो अपने शहरियों को यकसां हिफाज़त का एहसास फराहम करने में मुकम्मल तौर पर नाकाम रही है।

सामाजी बेबसी, फसादात का खौफ और अदालती ना-इंसाफी के इस दर्दनाक जायज़े के बाद यह हकीकत बिल्कुल वाज़ेह हो जाती है कि मुसलमानों को सिर्फ मआशी तौर पर ही तबाह नहीं किया गया, बल्कि उनकी सामाजी और नप्सियाती कमर भी मुकम्मल तौर पर तोड़ दी गई है। तालीम, रोज़गार और सामाजी हिफाज़त से इस मुकम्मल बेदखली के बाद, अब सिर्फ एक ऐसा मैदान बाकी रह जाता है जहां से कोई दबी-कुचली क्रौम अपने हुकूक वापस हासिल करने की जद्दोजहद कर सकती है, और वह मैदान सियासत का है। लेकिन मुल्क के सियासी निज़ाम और जम्हूरियत ने मुसलमानों की कयादत और उनके सियासी हुकूक के साथ क्या सुलूक किया, यह हमारी इस किताब का अगला और निहायत ही अहम मौज़ू होगा।

ग्यारहवाँ बाब: फलाही मंसूबे: सरकारी मंसूबों का फायदा आम मुसलमान तक क्यों नहीं पहुँच पाता?

मंसूबों का कागज़ी वजूद और ज़मीनी हकीकत

किसी भी जम्हूरी और फलाही रियासत का सबसे बड़ा और बुनियादी मकसद अपने दबे-कुचले अवाम की मआशी, सामाजी और तालीमी तरक्की के रास्ते हमवार करना होता है। रियासत की कामयाबी इस बात से नहीं आंकी जाती कि उसने कितने खूबसूरत कानून बनाए हैं, बल्कि इस बात से तय होती है कि उसके बनाए हुए फलाही मंसूबों का फायदा मुआशरे के सबसे कमज़ोर और आखिरी पायदान पर खड़े इंसान तक पहुँच रहा है या नहीं। आज़ादी के बाद से लेकर आज तक, जब भी मुल्क के सियासी ऐवानों में हिंदुस्तानी मुसलमानों की मआशी तबाही और तालीमी पसमंदगी का ज़िक्र आया, या किसी आला सती मजलिस ने उनके दर्दनाक हालात का पर्दाफाश किया, तो हुकूमतों ने फौरन अपना ज़मीर साफ दिखाने के लिए फलाह-ओ-बहबूद के बड़े-बड़े मंसूबों का ऐलान कर दिया। यह मंसूबे अक्सर बहुत ही खुशनुमा और उम्मीदों से भरे हुए नज़र आते थे, लेकिन इनकी हकीकत महज़ एक फरेब से ज़्यादा कुछ नहीं थी।

सियासतदानों ने इन मंसूबों को हमेशा अपनी हमदर्दी का सुबूत बनाकर पेश किया। जब भी इंतखाबात करीब आते या अवाम में हुकूमत के खिलाफ बेचेनी बढ़ती, तो अखबारों और मुवासलाती ज़राए के ज़रिए यह तशहीर की जाती कि हुकूमत मुसलमानों की तरक्की के लिए करोड़ों का सरमाया खर्च कर रही है। तालीम के लिए वज़ीफे, छोटे कारोबार के लिए आसान कर्ज़, और हुनरमंदी की तरक्की के नाम पर बेशुमार तजवीज़ात पेश की जातीं। एक आम और गरीब मुसलमान जब इन ऐलानों को सुनता, तो उसके दिल में यह उम्मीद जाग उठती कि शायद अब रियासत ने उसकी फरियाद सुन ली है और उसकी मुफलिसी के दिन खत्म होने वाले हैं। लेकिन यह उम्मीद मुल्क की तारीख के सबसे खौफनाक और मुसलसल फरेब का शिकार हो जाती थी, क्योंकि इन मंसूबों का हकीकी वजूद सिर्फ सरकारी दस्तावेज़ों, इश्तेहारात और हुक्मरानों की तकरीरों तक ही महदूद था। मीनी हकीकत इन कागज़ी दावों के बिल्कुल बरअक्स और निहायत ही दर्दनाक थी।

जिन मंसूबों का ज़ोर-शोर से ढिंढोरा पीटा जाता था, जब उनके निफाज़ का वक़्त आता, तो वह मुल्क के बड़े सरकारी दफ्तरों की अलमारियों में बंद दस्तावेज़ों का हिस्सा बनकर दफन हो जाते। हुकूमतों की बदनियती का सबसे बड़ा सुबूत इन मंसूबों के लिए सरमाये की फ़राहमी और उसके असल इस्तेमाल में नज़र आता है। सरकारी खज़ाने से अकलियतों की फ़लाह-ओ-बहबूद के नाम पर जो रकम मखसूस की जाती, उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा अक्सर साल के आखिर तक खर्च ही नहीं किया जाता। और जब वह रकम खर्च नहीं होती, तो मुल्क के माली कानून के तहत वह सरमाया वापस हुकूमती खज़ाने में चला जाता या उसे किसी और गैर-मुतल्लिक काम में सर्फ़ कर दिया जाता। मुल्क की कई रियासतों की माली दस्तावेज़ात गवाह हैं कि मुसलमानों की तरक्की के लिए मखसूस किया गया आधा सरमाया भी कभी ज़मीनी सतह पर खर्च नहीं किया गया।

इस खामोश और कागज़ी साज़िश का नतीजा यह हुआ कि जिन मंसूबों को गुरबत मिटाने और तालीम आम करने के लिए बनाया गया था, वह कभी किसी गरीब बुनकर, किसी खस्ताहाल दस्तकार या किसी गरीब तालिब-ए-इल्म के दरवाज़े तक नहीं पहुँच सके। एक तरफ़ हुकूमतें मुसलसल यह दावा कर रही थीं कि वह मुसलमानों पर मुल्क का खज़ाना लुटा रही हैं, और दूसरी तरफ़ मुल्क का आम मुसलमान दो वक़्त की रोटी और अपने बच्चों की इब्तिदाई तालीम के लिए भी मोहताज़ था। इस दोहरे मेयार ने अक्सरियत के ज़हनों में तो यह ग़लतफ़हमी पैदा कर दी कि मुसलमानों को मुल्क की तरक्की का सारा मलाईदार हिस्सा मिल रहा है, जबकि हकीकत में मुसलमानों के हिस्से में सिर्फ़ झूठे वादे और कागज़ी दस्तावेज़ात आए। इन फ़लाही मंसूबों का ज़मीनी सतह पर नाकाम हो जाना कोई इत्तेफ़ाक़ या महज़ इंतज़ामिया की सुस्ती का नतीजा नहीं था। यह दरअसल उस ज़हरीले तास्सुब का हिस्सा था जो सरकारी महकमों की रग-रग में बस चुका था। जब कोई मंसूबा कागज़ से निकल कर सरकारी अमले के हाथों में पहुँचता, तो वहाँ से उसे तबाह करने का एक नया और खौफनाक खेल शुरू होता था। सरकारी महकमों में बैठे हुए ओहदेदार किस तरह इन मंसूबों को नाकाम बनाते हैं और एक आम मुसलमान को किस तरह कागज़ी पेचीदगियों में उलझा कर जलील किया जाता है, यह इस मुज़रमाना फरेब का अगला और निहायत ही अहम पहलू है जिसका जायज़ा हम अगले हिस्से में लेंगे।

इंतज़ामिया का तास्सुब और कागज़ी पेचीदगियों का खौफनाक जाल

सरकारी मंसूबों का कागज़ों से निकल कर हकीकत का रूप लेना मुकम्मल तौर पर उस इंतज़ामिया और सरकारी अमले पर मुनहसिर होता है जिसके हाथों में इन मंसूबों के निफाज़ की चाबी होती है। हुकूमतें चाहे कितने ही शानदार और हमदर्दी से भरे हुए मंसूबे क्यों न बना लें, अगर उन्हें ज़मीनी सतह पर लागू करने वाले अमले के दिलों में तास्सुब का ज़हर भरा हो, तो वह मंसूबे कभी किसी मजलूम की गुरबत दूर नहीं कर सकते। हिंदुस्तानी मुसलमानों की सबसे बड़ी बदनसीबी यह रही है कि मुल्क का यह सरकारी ढांचा और इसके निचले दर्जे से लेकर आला सतह तक के ओहदेदार अक्सर एक ऐसे सामाजी तास्सुब का शिकार रहे हैं, जिसने किसी भी फलाही मंसूबे को ईमानदारी और शफ़ाफ़ियत के साथ आम मुसलमान तक पहुँचने ही नहीं दिया। जब कोई गरीब मुसलमान अपनी रोज़ी-रोटी की थका देने वाली जद्दोज़हद से वक़्त निकाल कर, बच्चों की तालीम के लिए किसी वज़ीफ़े, बेवा की पेंशन या छोटे कारोबार के कर्ज़ की उम्मीद में किसी सरकारी दफ़्तर का दरवाज़ा खटखटाता है, तो वहाँ उसका इस्तक़बाल हमदर्दी के बजाय निहायत ही सर्द बेरुखी, हिकारत और शक की निगाहों से किया जाता है। दफ़्तरों की मेज़ों पर बैठे हुए ओहदेदार दरख्वास्त गुज़ार को ऐसे देखते हैं गोया वह रियासत का कोई जायज़ हक़ मांगने नहीं, बल्कि उनका कोई ज़ाती खज़ाना लूटने आ गया हो। यह तास्सुब सिर्फ़ उनके रवैये तक महदूद नहीं होता, बल्कि यह उनके काम करने के उस मुज़रमाना तरीके में भी झलकता है जिसका वाहिद मक़सद दरख्वास्त गुज़ार को इस कदर जलील और परेशान करना होता है कि वह खुद ही अपना हक़ मांगने से तौबा कर ले। इंतज़ामिया का यह तास्सुब सबसे खौफनाक शक़ल उस वक़्त इख़्तियार करता है जब दरख्वास्त गुज़ार को कागज़ी पेचीदगियों के एक ऐसे ना-ख़त्म होने वाले भंवर में धकेल दिया जाता है, जहाँ से निकलना एक कम-पढ़े-लिखे और गरीब इंसान के लिए तकरीबन ना-मुमकिन हो जाता है। किसी मामूली से मंसूबे का फायदा उठाने के लिए भी अमला ऐसी-ऐसी दस्तावेज़ात, शनाख़्ती सुबूत, रिहाइश के कागज़ात और आबाई सनदों की मांग करता है जो अक्सर इन गरीब अवाम के पास मौजूद ही नहीं होते। अगर कोई दरख्वास्त गुज़ार बड़ी जद्दोज़हद के बाद कुछ कागज़ात मुकम्मल कर भी ले, तो हर अगली पेशी पर उससे किसी नए सुबूत, किसी नए सरकारी दस्तख़त या किसी ज़मानत की मांग कर ली जाती है। एक मामूली सी ग़लती या किसी नाम की हिज्जे में ज़रा से फर्क को बहाना बनाकर पूरी की पूरी दरख्वास्त मुस्तरद कर दी जाती है।

इस कागज़ी जाल का असल मक़सद दरखास्त की कोई शफ़्फ़ाफ़ जांच-पड़ताल नहीं, बल्कि दरखास्त गुज़ार के हौसले पस्त करना होता है। एक गरीब दस्तकार, मज़दूर या फेरी लगाने वाला जो रोज़ाना की उजरत पर अपने बच्चों का पेट पालता है, वह सरकारी दफ़्तरों के मुसलसल चक्कर काटने का मुतहम्मिल नहीं हो सकता। महीनों और बाज़ औकात सालों तक उसकी दस्तावेज़ात को एक मेज़ से दूसरी मेज़ तक सरकाया जाता है। इसके साथ ही, सरकारी दफ़्तरों में रिश्तत और सिफारिश का ऐसा बाज़ार गर्म किया जाता है जो एक मुफलिस इंसान की पहुँच से मुकम्मल तौर पर बाहर होता है। जब कोई दरखास्त गुज़ार अमले की यह ना-जायज़ मांगें पूरी नहीं कर पाता, तो उसकी दस्तावेज़ात को किसी धूल भरी अलमारी में हमेशा के लिए दफन कर दिया जाता है।

मुसलसल तौहीन, दफ़्तरों के धक्के और कागज़ी उलझनों से तंग आकर आखिर-कार वह गरीब मुसलमान मुकम्मल तौर पर नाउम्मीद होकर अपने कदम पीछे खींच लेता है। वह इस कड़वी हकीकत को तस्लीम कर लेता है कि रियासत की तरफ से मिलने वाली यह ख़ैरात दरअसल उसकी खुदारी, उसके वक़्त और उसकी इज़्ज़त-ए-नपस की बहुत बड़ी कीमत मांग रही है। जब दरखास्त गुज़ार हार मान लेता है और मंसूबे का सरमाया इस्तेमाल नहीं होता, तो सरकारी अमला निहायत ही चालाकी से अपनी नाकामी और अपने तास्सुब का सारा इल्ज़ाम खुद मुसलमानों के सर मढ़ देता है। आला ऐवानों और हुक्मरानों तक यह झूठी रिपोर्टें पहुँचा दी जाती हैं कि मुसलमान अपनी जहालत और काहिली की वजह से इन सहूलियात का फायदा उठाना ही नहीं चाहते।

इस सरकारी फरेब ने एक तरफ तो मुसलमानों को मआशी सहूलियात से मुकम्मल तौर पर महरूम रखा, और दूसरी तरफ मुआशरे में उन्हें ही कुसूरवार ठहरा दिया। लेकिन क्या इस नाकामी की ज़िम्मेदारी सिर्फ़ हुकूमती अमले पर आयद होती है, या खुद मुस्लिम मुआशरे के अंदर मालूमात और रहनुमाई की वह शदीद कमी भी इसका सबब है जिसने उन्हें इन हुकूक से दूर रखा? यह एक निहायत ही संजीदा और मुहासबे का सवाल है, जिसका तपसीली जायज़ा हम इस बाब के अगले हिस्से में लेंगे।

मालूमात की कमी और रहनुमाई का मुकम्मल फुकदान

सरकारी महकमों के तास्सुब और कागज़ी पेचीदगियों के साथ-साथ एक और निहायत संजीदा और कड़वी हकीकत का मुहासबा करना भी मुल्क के मुसलमानों के लिए बेहद लाज़िमी है। किसी भी क़ौम की मआशी और सामाजी तरक्की सिर्फ हुकूमत के फलाही मंसूबों पर मुनहसिर नहीं होती, बल्कि उस क़ौम की अंदरूनी बेदारी, मालूमात तक रसाई और बा-सलाहियत रहनुमाई पर भी मबनी होती है। हिंदुस्तानी मुसलमानों के फलाही मंसूबों से महरूम रहने की एक बहुत बड़ी और बुनियादी वजह उनके मुआशरे में पाई जाने वाली शदीद मालूमात की कमी और अवामी रहनुमाई का मुकम्मल फुकदान है। जब रियासत खुद किसी तबके को उसके हुकूक देने से कतरा रही हो, तो उस तबके के लिए यह लाज़िमी हो जाता है कि वह अपने हुकूक हासिल करने के लिए बेदार और मुतहर्रिक हो। लेकिन मुसलसल गुरबत, खौफ और तालीमी पसमंदगी ने आम मुसलमान को इस कदर बेबस कर दिया है कि वह अक्सर अपने बुनियादी हुकूक और हुकूमत की तरफ से जारी होने वाले मंसूबों के नाम तक से वाकिफ नहीं होता।

मालूमात तक रसाई किसी भी मंसूबे से फायदा उठाने की सबसे पहली सीढ़ी होती है। हुकूमतें अपने फलाही मंसूबों का ऐलान अक्सर सरकारी दस्तावेज़ात, खास अखबारात या ऐसे मुवासलाती ज़राए से करती हैं जो मुल्क के तालीम याफ़ता और खुशहाल तबके तक ही महदूद रहते हैं। एक गरीब मुसलमान जो रोज़ाना सुबह अपनी रोज़ी-रोटी की तलाश में निकलता है और रात को थक-हार कर अपने घर लौटता है, उसकी दुनिया सिर्फ उसके मोहल्ले और उसकी मज़दूरी की जगह तक सिमटी होती है। तालीम की शदीद कमी और मआशी जद्दोज़हद की वजह से उसे कभी यह खबर ही नहीं पहुँच पाती कि रियासत ने उसके बच्चों की तालीम के लिए कोई वज़ीफा मुकर्रर किया है, या उसके छोटे कारोबार के लिए कोई आसान कर्ज़ फराहम किया जा रहा है, या बेवा और नादार ख्वातीन के लिए कोई खुसूसी रकम मुकर्रर की गई है। मालूमात के इस शदीद फुकदान ने एक ऐसी खौफनाक दीवार खड़ी कर दी है जिसके एक तरफ हुकूमत के कागज़ी मंसूबे रखे हैं और दूसरी तरफ एक मुकम्मल तौर पर बेखबर और गरीब अवाम मौजूद है। मुल्क के दीगर दबे-कुचले तबकात ने अपनी इस बेखबरी को दूर करने के लिए अपने मुआशरे के अंदर ऐसे इदारे और तंज़ीमें कायम की हैं जो आम लोगों की रहनुमाई करती हैं।

लेकिन मुस्लिम मुआशरे का यह निहायत ही दर्दनाक पहलू है कि यहां सामाजी और फलाही इदारों का शदीद फुकदान पाया जाता है। मुस्लिम बस्तियों में ऐसी कोई मुनज़्ज़म तंज़ीमें या रहनुमाई के मरकज़ मौजूद नहीं हैं जहां एक अनपढ़ या कम-पढ़े-लिखे इंसान का हाथ पकड़ कर उसे सरकारी दफ्तरों के निज़ाम से वाकिफ कराया जा सके। अगर कोई शख्स किसी तरह किसी मंसूबे के बारे में सुन भी ले, तो उसे यह बताने वाला कोई नहीं होता कि दरखास्त कैसे लिखनी है, कौन से कागज़ात कहां से हासिल करने हैं और किस सरकारी ओहदेदार से मिलना है। मुआशरे के वह अफराद जो तालीम याफ्ता हैं, खुशहाल हैं और सरकारी निज़ाम को बेहतर अंदाज़ में समझते हैं, वह अक्सर इन गरीब बस्तियों से हिजरत करके बेहतर रिहाइशी इलाकों में मुंतकिल हो जाते हैं। इस तरह गरीब और नादार तबके को मुकम्मल तौर पर तन्हा और बे-यार-ओ-मददगार छोड़ दिया जाता है।

रहनुमाई की इसी शदीद कमी और मालूमात के फुकदान का सबसे ज़्यादा फायदा मुआशरे में मौजूद उन फरेबी अनासिर और दरमियानी लोगों ने उठाया है, जो सरकारी दफ्तरों के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं। जब एक गरीब और बेखबर मुसलमान अपनी दरखास्त लेकर किसी दफ्तर के बाहर खड़ा होता है, तो यह दरमियानी लोग उसके पास हमदर्द बनकर पहुँचते हैं। वह सरकारी कागज़ी पेचीदगियों और ओहदेदारों के तास्सुब का खौफ दिलाकर उस गरीब इंसान से उसकी गाढ़ी कमाई का एक बड़ा हिस्सा रिश्तत या फीस के नाम पर ऐंठ लेते हैं। अक्सर यह फरेबी अनासिर महज़ झूठे वादे करते हैं और गरीब का सरमाया लूट कर गायब हो जाते हैं। इस तरह एक मजलूम इंसान, जो रियासत से अपना हक़ मांगने गया था, फरेब का शिकार होकर मज़ीद गुरबत के गार में गिर जाता है। यह इस्तेहसाल आम मुसलमान के हौसले मुकम्मल तौर पर तोड़ देता है और वह हमेशा के लिए सरकारी मंसूबों से तौबा कर लेता है।

मालूमात की यह शदीद कमी, इदारों का फुकदान और अपनों की बेरुखी वह अंदरूनी ज़ख्म हैं जिन्होंने हुकूमतों के तास्सुब को मज़ीद कामयाब बनाने में एक बहुत बड़ा किरदार अदा किया है। जब कोई क़ौम अपने हुकूक के तई खुद बेदार न हो, तो रियासत के लिए उसे नज़रअंदाज़ करना निहायत आसान हो जाता है। इसी अंदरूनी कमज़ोरी और बेखबरी का फायदा उठाकर हुकूमतों ने एक और खौफनाक और खामोश साज़िश रची।

उन्होंने तरक्की और फलाह के उन बड़े मंसूबों को, जो पूरे इलाके या शहर के लिए बनाए जाते थे, बड़ी चालाकी और खामोशी के साथ मुस्लिम बस्तियों की सरहदों से बाहर ही रोक दिया। रियासत की इस मुनज़्ज़म और साज़िशि नज़रअंदाज़ी का जायज़ा लेना अब हमारे लिए निहायत लाज़िमी है, जिसे हम अगले हिस्से में पूरी तफ़सील के साथ बेनकाब करेंगे।

मुस्लिम बस्तियों की जान-बूझकर और मुनज़्ज़म नज़रअंदाज़ी

किसी भी मुल्क या शहर की तरक्की का असल पैमाना यह नहीं होता कि उसके चंद मखसूस इलाकों में कितनी ऊंची इमारतें और चौड़ी सड़कें तामीर की गई हैं, बल्कि हकीकी तरक्की वह होती है जिसके असरात शहर के हर मोहल्ले और हर बस्ती में यकसां तौर पर नज़र आए। रियासत का यह बुनियादी फरीज़ा होता है कि वह अवाम से जो महसूल या लगान वसूल करती है, उसे मुल्क की अवाम को बुनियादी सहूलियात फराहम करने पर खर्च करे। लेकिन हिंदुस्तानी मुसलमानों के सामाजी और मआशी ज़वाल की दास्तान में यह एक निहायत ही कड़वी और दर्दनाक हकीकत है कि मुल्क की हुक्मतों और बलदियाती इदारों ने मुस्लिम बस्तियों और मोहल्लों को शहर की आम तरक्की के धारे से मुकम्मल तौर पर और जान-बूझकर काट दिया। यह कोई इत्तेफाक या महज़ खज़ाने की कमी का नतीजा नहीं था, बल्कि यह एक ऐसी मुनज़्ज़म और खामोश साज़िश थी जिसके तहत मुसलमानों को उनके अपने ही मुल्क में दोयम दर्जे का शहरी होने का मुसलसल एहसास दिलाया गया। जब हम मुल्क के किसी भी बड़े या छोटे शहर का जायज़ा लेते हैं, तो यह खौफनाक सामाजी तक्सीम बिल्कुल वाज़ेह तौर पर नज़र आती है। शहर के वह इलाके जहां मुल्क की अक्सरियत या खुशहाल तबका आबाद होता है, वहां पक्की और चौड़ी सड़कें, पीने के साफ पानी का माकूल इंतज़ाम, सीवर की बेहतरीन लाइनें, और रात को जगमगाती हुई रोशनियां मौजूद होती हैं। लेकिन जैसे ही कोई शख्स शहर के उस हिस्से में कदम रखता है जहां मुसलमानों की घनी आबादी शुरू होती है, तो तरक्की का वह सारा मंज़र अचानक एक खौफनाक वीराने और खस्ताहाली में तब्दील हो जाता है। तरक्की के यह मंसूबे मुस्लिम बस्तियों की सरहदों पर आकर ऐसे रुक जाते हैं गोया आगे किसी गैर मुल्क की सरहद शुरू हो गई हो।

इन बस्तियों में टूटी हुई संकरी गलियां, खुले और उबलते हुए गंदे नाले, पीने के साफ पानी का शदीद बोहरान और कूड़े के बड़े-बड़े ढेर एक आम नज़ारा बन जाते हैं। सरकारी अमले और बलदियाती इदारों की यह मुज़रमाना नज़रअंदाज़ी इन मोहल्लों को आहिस्ता-आहिस्ता ऐसी बदहाल बस्तियों में तब्दील कर देती है जहां इंसानों का इज़्ज़त के साथ सांस लेना भी तकरीबन मुहाल हो जाता है। बुनियादी सहूलियात से महरूमी का यह तास्सुब सिर्फ रास्तों और सफाई तक ही महदूद नहीं रहता, बल्कि इसका सबसे खौफनाक असर तालीम और सेहत के इदारों पर पड़ता है। हुकूमतों ने एक सोची-समझी ज़हनीयत के तहत मुस्लिम बस्तियों में सरकारी स्कूल, अस्पताल और सेहत के बुनियादी मरकज़ कायम करने से मुसलसल गुरेज़ किया है। जिन इलाकों में आबादी का दबाव सबसे ज़्यादा होता है और जहां गुरबत की वजह से लोग निजी अस्पतालों या महंगे स्कूलों का खर्च नहीं उठा सकते, ऐन उसी जगह सरकारी इदारों की गैर-मौजूदगी एक बहुत बड़ा सामाजी जुल्म है। जब एक गरीब मुसलमान औरत बीमारी की हालत में इलाज के लिए तड़पती है, या कोई बच्चा तालीम हासिल करने के लिए कई मील दूर शहर के दूसरे हिस्से में जाने पर मजबूर होता है, तो वह दरअसल रियासत के उसी ज़हरीले तास्सुब का शिकार हो रहे होते हैं जिसने उनकी बस्ती को शहर के नक्शे से ही मिटा दिया है। तालीम और सेहत से इस मुकम्मल बेदखली ने मुस्लिम बस्तियों को जहालत और बीमारियों का ऐसा मरकज़ बना दिया है जहां से निकल कर तरक्की के रास्ते पर चलना एक आम नौजवान के लिए ना-मुमकिन हो गया है। इस मुनज़ज़म नज़रअंदाज़ी का एक और निहायत ही स्याह पहलू मुल्क के माली इदारों का रवैया है। जैसा कि सरकारी दस्तावेज़ों ने भी बेनकाब किया, मुल्क के सरकारी और गैर-सरकारी बैंकों ने मुस्लिम बस्तियों को खामोशी के साथ ऐसे ममनूआ इलाकों की फेहरिस्त में डाल दिया जहां कर्ज़ देना या माली सहूलियात फराहम करना खतरे से खाली नहीं समझा जाता। जब किसी बस्ती के अंदर कोई माली इदारा अपनी शाख खोलने से ही इंकार कर दे, और सरकारी महकमे वहां बुनियादी ढांचा तामीर करने से मुकर जाएं, तो वहां का छोटा ताजिर या दस्तकार अपना कारोबार कैसे बढ़ा सकता है? यह मुकम्मल तौर पर एक ऐसा मआशी और सामाजी मुहासरा है जिसने मुसलमानों को अपने ही मोहल्लों में कैद करके रख दिया है। इन बस्तियों में पैदा होने वाली नई नस्ल जब अपने इर्द-गिर्द इस खस्ताहाली और रियासत की बेरुखी को देखती है, तो उसके ज़हन में मुल्क के बड़े निज़ाम के तर्ई एक शदीद मायूसी और बेगानगी जन्म लेती है।

मुस्लिम बस्तियों की यह तबाही दरअसल उन फलाही मंसूबों के मुंह पर एक बहुत बड़ा तमाचा है जिनका ढिंढोरा मुल्क के सियासतदान दिन-रात पीटते रहते हैं। एक तरफ कागज़ों पर तरक्की के बड़े-बड़े दावे किए जाते हैं, और दूसरी तरफ ज़मीनी हकीकत यह है कि रियासत ने मुसलमानों को साफ पानी और पक्की सड़क जैसी बुनियादी इंसानी ज़रूरतों से भी महरूम कर रखा है। यह मुज़रमाना बेरुखी इस बात का सुबूत है कि मुसलमानों की तरक्की का नारा सिर्फ और सिर्फ एक सियासी फरेब है। इसी सियासी फरेब और मुस्तकबिल के मआशी सवालात का मुकम्मल जायज़ा हम इस बाब के आखिरी हिस्से में लेंगे, ताकि इस दर्दनाक हकीकत के तमाम रुख अवाम के सामने आ सकें।

सियासी फरेब और मआशी तरक्की का मुस्तकबिल

फलाही मंसूबों की यह मुकम्मल नाकामी, हुकूमती अमले का तास्सुब और मुस्लिम बस्तियों की मुनज़ज़म नज़रअंदाज़ी कोई इत्तेफाक नहीं है, बल्कि यह मुल्क की सियासत का एक निहायत ही खौफनाक, घिनौना और मुसलसल फरेब है। मुल्क की वह सियासी जमातें जो खुद को गैर-मज़हबी और मुसलमानों की सबसे बड़ी हमदर्द होने का दावा करती हैं, उन्होंने दरअसल मुसलमानों की गुरबत और उनकी पसमंदगी को अपना सबसे बड़ा सियासी हथियार बना लिया है। अगर मुसलमानों की मआशी हालत सुधर जाए और वह तालीमी और सामाजी तौर पर अपने पैरों पर खड़े हो जाएं, तो फिर उन्हें खौफ और फलाही मंसूबों का लालच देकर उनके वोटों का सौदा नहीं किया जा सकेगा। इसी सियासी बदनियती के तहत, मुसलमानों को कभी मुकम्मल आईनी हुकूक नहीं दिए गए, बल्कि उन्हें हमेशा खैरात और चंद कागज़ी मंसूबों का मोहताज़ बना कर रखा गया ताकि वह हर इंतखाब में उन गैर-मज़हबी जमातों के बंधुआ मज़दूर बने रहें।

जब भी मुल्क में इंतखाबात का वक़्त करीब आता है, तो इन सियासी जमातों को अचानक मुसलमानों की बदहाली और उनके ज़ख्म याद आ जाते हैं। बड़े-बड़े जलसों में उनके सामाजी इंसाफ के झूठे वादे किए जाते हैं, नए-नए फलाही मंसूबों के इश्तियारात छापे जाते हैं।

और उन्हें यह एहसास दिलाया जाता है कि अगर फलां जमात इक्तेदार में नहीं आई तो मुसलमानों का वजूद खतरे में पड़ जाएगा। मुसलमानों को खौफ के एक ऐसे नपसियाती जाल में उलझा दिया जाता है कि वह अपने बुनियादी हुक्क, तालीम और रोज़गार के सवालात पूछना ही भूल जाते हैं। वह सिर्फ अपनी जान और अपनी बस्ती महफूज़ रखने के लिए उन सियासी रहनुमाओं के हक़ में अपने वोट डाल देते हैं। लेकिन जैसे ही इंतखाबात खत्म होते हैं और इक्तेदार की कुर्सियां बंट जाती हैं, वह तमाम फलाही मंसूबे, वह तमाम हमदर्दी के दावे और वह तमाम वादे खामोशी के साथ ठंडे बस्ते में डाल दिए जाते हैं। मुल्क का मुसलमान एक बार फिर अपनी खस्ताहाल बस्ती, अपनी गुरबत और उसी जालिम इंतज़ामिया के रहम-ओ-करम पर तन्हा छोड़ दिया जाता है। यह एक निहायत ही कड़वी और तारीखी हकीकत है कि किसी भी क्रौम की मआशी तरक्की और उसका सामाजी वकार कभी भी खैरात, वज़ीफों या खोखले फलाही मंसूबों की बुनियाद पर कायम नहीं हो सकता। जब तक किसी क्रौम को मुल्क के निज़ाम, उसके रोज़गार और उसके तालीमी इदारों में बाज़ाब्ता और कानूनी हिस्सेदारी नहीं मिलती, तब तक उसकी पसमंदगी दूर करना ना-मुमकिन है। फलाही मंसूबे किसी बीमार क्रौम के लिए महज़ एक आरज़ी दर्द-कुश दवा का काम तो कर सकते हैं, लेकिन वह उस बीमारी का मुकम्मल इलाज हरगिज़ नहीं हो सकते।

हिंदुस्तानी मुसलमानों का मुस्तकबिल इस बात पर मुनहसिर नहीं है कि हुकूमत उनके लिए कितने नए कागज़ी मंसूबों का ऐलान करती है, बल्कि उनका असल मुस्तकबिल इस बात में पोशीदा है कि वह मुल्क के दस्तूर में अपने लिए बराबरी का हक़ कब और कैसे हासिल करते हैं। जब तक मुसलमानों को महज़ एक वोट देने वाला हुज़ूम समझा जाएगा और उन्हें मुल्क की मआशत का बराबर का हिस्सेदार नहीं माना जाएगा, तब तक यह सियासी फरेब मुसलसल जारी रहेगा। आज की नई नस्ल को यह बात मुकम्मल तौर पर समझनी होगी कि हुक्क कभी मांगने से या सरकारी दफ्तरों के बाहर कतारों में खड़े होने से नहीं मिलते, बल्कि उन्हें एक मज़बूत सामाजी बेदारी और बा-सलाहियत कयादत के ज़रिए हासिल किया जाता है। रियासत के इस मुसलसल फरेब और अपनों की बेखबरी ने हमें जिस दोराहे पर लाकर खड़ा कर दिया है, वहां से आगे बढ़ने का वाहिद रास्ता अपनी एक ऐसी मज़बूत सियासी और सामाजी कयादत का कयाम है, जो हुक्मरानों की आंखों में आंखें डाल कर हमारे आईनी हुक्क छीन सके।

और यहीं से हमारी इस दास्तान का वह सबसे अहम और नाजुक सवाल पैदा होता है जिसने आज़ादी के बाद से लेकर आज तक हिंदुस्तानी मुसलमानों को सबसे ज़्यादा नुकसान पहुँचाया है। आखिर हमारी अपनी कयादत कहां है? आज़ादी के बाद से हमारे रहनुमाओं ने क्या किरदार अदा किया और आज हमारा मुआशरा कयादत के किस खौफनाक बोहरान से गुजर रहा है? यह हमारी किताब का अगला और निहायत ही अहम मौजू है।

बारहवां बाब: सियासी कयादत का बोहरान: माज़ी, हाल और मुस्तक़बिल

तक़सीम के बाद कयादत का खला और माज़ी की खौफनाक गलतियां

हिंदुस्तान की आज़ादी और उसकी तक़सीम का वाकया महज़ ज़मीन के बंटवारे का नाम नहीं था, बल्कि यह हिंदुस्तानी मुसलमानों की तारीख का वह सबसे बड़ा ज़लज़ला था जिसने उनके सामाजी, मआशी और सबसे बढ़कर उनके सियासी वजूद को मुकम्मल तौर पर झकझोर कर रख दिया। जब मुल्क का बंटवारा हुआ, तो एक निहायत ही दर्दनाक और कड़वी हकीकत ने जन्म लिया। मुस्लिम मुआशरे का वह तबका जो आला तालीम याफ़ता था, जो बड़े कारोबारी और सरमायादार थे, जो सरकारी मुलाज़मतों में आला ओहदों पर फ़ाइज़ थे और जिनके हाथों में मुआशरे की सियासी कयादत थी, उनकी एक बहुत बड़ी तादाद हिजरत करके नई सरहदों के पार चली गई। अपनी मादर-ए-वतन से मुहब्बत और वफादारी के जज़्बे के तहत जो मुसलमान हिंदुस्तान में रुक गए, उनमें से ज़्यादातर तादाद उन गरीब दस्तकारों, मज़दूरों, किसानों और छोटे कारोबारियों की थी जिनका सियासत और हुक्मरानी से कभी कोई सीधा वास्ता नहीं रहा था। मुल्क में रुक जाने वाले इन वफादार मुसलमानों ने अचानक खुद को एक ऐसे खौफनाक और गहरे खला में पाया जहां उनका हाथ पकड़ने वाला और मुल्क के ऐवानों में उनकी आवाज़ उठाने वाला कोई हकीकी रहनुमा बाकी नहीं बचा था। कयादत का यह बोहरान महज़ एक सियासी खला नहीं था, बल्कि यह एक मुकम्मल सामाजी यतीमी का आगाज़ था। एक तरफ मुल्क में जम्हूरियत का नया सूरज तुलू हो रहा था, नए कानून और दस्तूर लिखे जा रहे थे, और दीगर तमाम तबकात अपने हुक्क की खातिर मुतहरिक थे।

और दूसरी तरफ, मुल्क का मुसलमान तक्रसीम के इल्ज़ाम, मुसलसल फसादात और अपने ही मुल्क में शक की निगाहों से देखे जाने के शदीद खौफ में मुब्तिला था। ऐसे नाज़ुक तरीन वक़्त में जब किसी क़ौम को सबसे ज़्यादा एक बा-सलाहियत, निडर और दूर-अंदेश कयादत की ज़रूरत होती है जो मुल्क के हुक्मरानों से आंखों में आंखें डाल कर उनके हुक्क की बात कर सके, उस वक़्त हिंदुस्तानी मुसलमान मुकम्मल तौर पर बे-यार-ओ-मददगार खड़े थे। पीछे रह जाने वाले चंद रहनुमा या तो इतने खौफज़दा थे कि उन्होंने खामोशी इख्तियार कर ली, या फिर वह मुल्क के नए हुक्मरानों के सामने इस कदर झुक गए कि उन्होंने अपनी क़ौम के मुस्तकबिल का मुकम्मल सौदा कर लिया। इसी खौफ और कयादत के खला ने माज़ी की उन खौफनाक गलतियों की बुनियाद रखी जिनका खमियाज़ा आज तक मुल्क की नई नस्ल भुगत रही है। सबसे बड़ी गलती यह हुई कि मुआशरे ने ज़मीनी सतह से अपनी नई कयादत खड़ी करने के बजाय, अपनी सियासी हैसियत और अपने तमाम हुक्क मुकम्मल तौर पर मुल्क की बड़ी और अक्सरियत परस्त जमातों के हवाले कर दिए। मुसलमानों ने यह तस्लीम कर लिया कि अब उनके अपने मुकद्दर का फैसला वह खुद नहीं करेंगे, बल्कि मुल्क के वह रहनुमा करेंगे जो हमदर्दी का लिबास पहन कर उनके सामने आते हैं। अपनी खुद-मुख्तारी का यह मुकम्मल कत्ल दरअसल उस खौफ का नतीजा था जिसमें आम मुसलमान सिर्फ अपनी जान और आबरू की अमान मांग रहा था। उसे तालीम, रोज़गार और दस्तूरी हुक्क से ज़्यादा फिक्र अपनी बस्ती को फसादात से बचाने की थी, और इसी मजबूरी ने उसे अपना आज़ाद सियासी वजूद कायम करने से मुकम्मल तौर पर रोक दिया। एक और निहायत ही संगीन गलती उन चंद गिने-चुने मुस्लिम रहनुमाओं से हुई जो उस वक़्त ऐवानों तक पहुँचने में कामयाब हो गए थे। यह रहनुमा अक्सर मुआशरे के उसी आला और खुशहाल तबके से ताल्लुक रखते थे जो तक्रसीम के बाद किसी तरह यहां रुक गया था। इनका मुल्क के आम, गरीब और दबे-कुचले मुसलमान से, उसकी गुरबत से और उसके ज़मीनी मसाइल से कोई वास्ता नहीं था। ऐवानों में बैठकर इन रहनुमाओं ने कभी इस बात की जद्दोजहद नहीं की कि मुसलमानों के लिए तालीम के दरवाज़े कैसे खोले जाएं या उन्हें सरकारी रोज़गार में मुकम्मल हिस्सेदारी कैसे दिलाई जाए। उन्होंने सिर्फ अपनी कुर्सियां महफूज़ रखने के लिए हुक्मरानों की हां में हां मिलाई और अपनी ही क़ौम के असल मसाइल पर मुजरिमाना खामोशी इख्तियार कर ली। कयादत के इस खला और माज़ी की इन गलतियों ने मुसलमानों को एक ऐसी अंधी गली में धकेल दिया जहां से उनका मुकम्मल इस्तेहसाल शुरू हुआ।

मुल्क की गैर-मज़हबी और बड़ी जमातों ने मुसलमानों की इस लाचारी और कयादत के इस बोहरान का किस तरह खौफनाक फायदा उठाया और उन्हें महज़ एक वोट देने वाले हुजूम में तब्दील कर दिया, यह हमारा अगला मौजू है।

गैर-मज़हबी सियासत का फरेब और अवाम का मुकम्मल इस्तेहसाल

मुल्क की तक्रसीम के बाद जब हिंदुस्तानी मुसलमानों ने कयादत के एक शदीद और खौफनाक खला का सामना किया, तो मुल्क की बड़ी और खुद को गैर-मज़हबी कहलाने वाली जमातों ने इस मज़बूरी का निहायत ही शातिराना फायदा उठाया। इन जमातों ने खौफज़दा और सहमे हुए मुसलमानों के सामने एक ऐसा सियासी फरेब बुना जिसने उन्हें मुकम्मल तौर पर अपना सियासी गुलाम बना लिया। उन्होंने मुसलमानों को यह यकीन दिलाया कि चूँकि मुल्क का दस्तूर गैर-मज़हबी है, इसलिए अब उन्हें अपनी कोई अलग और आज़ाद कयादत खड़ी करने की कोई ज़रूरत नहीं है। यह गैर-मज़हबी जमातें खुद को मुसलमानों का वाहिद मुहाफिज़ और सबसे बड़ा हमदर्द बनाकर पेश करने लगीं। लेकिन हकीकत में, यह हमदर्दी महज़ एक बिछाई गई बिसात थी, जिसका असल मक़सद मुसलमानों को एक ऐसे इंतखाबी हुजूम में तब्दील करना था जो हर बार बिना कोई सवाल किए इन हुक्मरानों की कुर्सियां महफूज़ रख सके। मुसलमानों ने अपने शदीद खौफ और सादगी में इन जमातों पर मुकम्मल अंधा एतमाद कर लिया और अपनी सियासी खुद-मुख्तारी हमेशा के लिए उनके कदमों में न्योछावर कर दी। इन गैर-मज़हबी जमातों की सियासत का सबसे बड़ा और कामयाब हथियार मुसलमानों का खौफ था। उन्होंने मुसलमानों को तालीम, रोज़गार, या हुकूमत में हिस्सेदारी देने के बजाय, उन्हें मुसलसल एक खौफनाक नफ़्सियाती मुहासरे में कैद रखा। हर इंतखाब से फौरन पहले अवाम के ज़हनों में यह खौफ निहायत मुनज़ज़म तरीके से बिठा दिया जाता कि अगर उन्होंने इन गैर-मज़हबी जमातों का साथ नहीं दिया, तो मुल्क की अक्सरियत परस्त और नफरत फैलाने वाली ताक़तें उनके वजूद को मुकम्मल तौर पर तबाह कर देंगी। इस शदीद खौफ के साए में, मुसलमानों ने कभी अपने बुनियादी और आईनी हुकूक की बात ही नहीं की। एक आम मुसलमान अपनी मआशी तबाही, अपने बच्चों की जहालत, और अपनी खस्ताहाल बस्तियों को भूल कर, सिर्फ अपनी जान और आबरू बचाने की खातिर इन जमातों की झोली में अपनी इंतखाबी पर्ची डालता रहा।

इन जमातों ने मुहाफिज़ बनने का लिबास तो ओढ़ा, लेकिन मुल्क की तारीख गवाह है कि जब भी बस्तियों में फसादात भड़के, तो इन्हीं जमातों की हुकूमतों ने खामोशी इख्तियार करके मुहाफिज़ों को मजलूमों का कत्ल-ए-आम देखने की मुकम्मल छूट दे दी।

इस सियासी इस्तेहसाल का सबसे स्याह और मुज़रमाना पहलू यह रहा कि इन गैर-मज़हबी जमातों ने कभी मुस्लिम मुआशरे के अंदर से किसी हकीकी, बा-सलाहियत और ज़मीनी रहनुमा को उभरने ही नहीं दिया। जब भी किसी नौजवान या दानिशवर ने अपनी क्रौम के मआशी और तालीमी हुकूक की बात की, या अपनी एक आज़ाद सियासी पहचान बनाने की जद्दोजहद की, तो इन जमातों ने उसे मुल्क की यकजहती के लिए खतरा करार देकर मुकम्मल तौर पर कुचल दिया। इसके बरअक्स, उन्होंने अपने महलात और ऐवानों में चंद ऐसे चापलूस और दरबारी चेहरों को जगह दी, जिनका ज़मीनी हकीकतों और गरीब अवाम से कोई ताल्लुक नहीं था। यह दरबारी रहनुमा सिर्फ हुक्मरानों की शान में कसीदे पढ़ते थे और अपनी ही क्रौम की तबाही पर पर्दा डालते थे। हुकूमतों ने इन दरबारियों को अवाम का रहनुमा बनाकर दुनिया के सामने पेश किया, ताकि यह फरेब दिया जा सके कि मुसलमानों को जम्हूरियत में मुकम्मल नुमाइंदगी मिल रही है।

बरसों तक चलने वाले इस मुसलसल सियासी फरेब ने हिंदुस्तानी मुसलमानों को एक ऐसी गहरी दलदल में धकेल दिया जहां से उनके लिए इंसाफ और बराबरी की उम्मीद मुकम्मल तौर पर खत्म हो गई। जिन जमातों ने मुसलमानों के कन्धों पर पांव रख कर मुल्क की हुक्मरानी की, उन्होंने खज़ाने का सारा फायदा अपने मखसूस तबकात और सरमायादारों को पहुँचाया, और मुसलमानों के हिस्से में सिर्फ गुरबत, फसादात की राख और झूठी हमदर्दी आई। यह सियासी इस्तेहसाल मुल्क की जम्हूरियत पर एक ऐसा बदनुमा दाग है जिसने यह साबित कर दिया कि जब तक किसी क्रौम की अपनी आज़ाद, निडर और बा-सलाहियत कयादत नहीं होती, कोई भी गैर-मज़हबी निज़ाम उसे उसका हक़ नहीं दिला सकता। मुसलसल नज़रअंदाज़ी और इस फरेब के नतीजे में, मुआशरे के अंदर एक ऐसी जज़्बाती कयादत ने जन्म लिया जिसने मुसलमानों को हकीकी मसाइल से मज़ीद दूर कर दिया। इस जज़्बाती सियासत का खौफनाक जायज़ा लेना अब हमारे लिए बेहद ज़रूरी है।

जज़्बाती कयादत और हकीकी मसाइल से मुकम्मल दूरी

मुल्क की सियासत में जब गैर-मज़हबी जमातों ने मुसलमानों को मुकम्मल तौर पर फरेब दिया और हकीकी कयादत का दरवाज़ा बंद कर दिया, तो मुस्लिम मुआशरे के अंदर एक निहायत ही खौफनाक और नुकसानदेह तब्दीली रुनुमा हुई। कयादत के उस खला को पुर करने के लिए एक ऐसे तबके ने सियासत और रहनुमाई में कदम रखा जिसका असल मक़सद अवाम की मआशी या तालीमी तरक्की नहीं, बल्कि महज़ जज़्बात से खेलना था। यह इंसानी नफ़्सीयात का एक कड़वा सच है कि जब कोई अवाम मुसलसल महरूमी, ज़िल्लत और खौफ का शिकार होते हैं, तो वह निहायत आसानी से जज़्बाती नारों का शिकार हो जाते हैं। हमारे मुआशरे में ऐसे रहनुमा पैदा हुए जिन्होंने रोज़गार, आला तालीम और आईनी हुकूक की बात करने के बजाय, मज़हब और शनाख़्त के नाम पर अवाम को खौफज़दा करना और उनके जज़्बात को भड़काना शुरू कर दिया। उन्होंने मुसलमानों को यह यकीन दिलाया कि उनके बुनियादी मसाइल ग़ुरबत या जहालत नहीं हैं, बल्कि उनकी शनाख़्त को लाहक़ खदशात ही उनके असल मसाइल हैं। इस जज़्बाती सियासत ने मुल्क के आम मुसलमान को ज़मीनी हकीकतों से मुकम्मल तौर पर दूर कर दिया।

इस जज़्बाती कयादत का सबसे बड़ा अलमिया यह रहा कि इसने अपनी सारी तवज्जो और अवाम की सारी तवानाई उन मसाइल पर खर्च कर दी जिनका ज़मीनी हकीकत और मआशी तरक्की से कोई दूर का भी वास्ता नहीं था। जब मुल्क की दीगर क़ौमें अपने बच्चों के लिए आला तालीमी इदारे, जामियात और बड़े सनअती इदारे कायम कर रही थीं, उस वक़्त हमारे यह जज़्बाती रहनुमा अवाम को सड़कों पर उतार कर महज़ खयाली और जज़्बाती नारों पर मुज़ाहिरे करवा रहे थे। अगर मुल्क के किसी हिस्से में कोई मामूली तनाज़ा खड़ा हो जाता, तो यह रहनुमा फौरन उसे एक बड़ा मसला बनाकर पूरे मुआशरे को एहतेजाज की भट्टी में झोंक देते। इन रहनुमाओं ने मुल्क की तारीख में कभी इस बात पर कोई तहरीक नहीं चलाई कि मुस्लिम बस्तियों में तालीमी इदारे क्यों नहीं हैं, हमारे नौजवानों को सरकारी महकमों में हिस्सेदारी क्यों नहीं मिल रही, या दस्तकारों का कारोबार क्यों तबाह हो रहा है। उन्होंने सिर्फ और सिर्फ अपनी जज़्बाती तकरीरों से अवाम का लहू गरम रखा, और इसके नतीजे में हमारी नई नस्ल तालीम और मआशत के मैदान में मुसलसल पीछे धकेली जाती रही।

हुक्मरानो और रियासत के लिए यह जज़्बाती कयादत निहायत ही मुफीद और फायदेमंद साबित हुई। गैर-मज़हबी सियासी जमातों ने इन जज़्बाती रहनुमाओं को खामोशी के साथ अपना मोहरा बना लिया। हुक्मतों को यह बात अच्छी तरह मालूम थी कि जब तक मुसलमान जज़्बाती मसाइल में उलझे रहेंगे, वह कभी भी अपने बुनियादी हुक्क, रोज़गार और मुल्क के खज़ाने में अपनी हिस्सेदारी का मुतालबा नहीं करेंगे। चुनांचे, रियासत ने इन जज़्बाती रहनुमाओं को खूब अहमियत दी। उन्हें आला ऐवानों में बुलाया जाता, उनके साथ तस्वीरें खिंचवाई जातीं और उन्हें मुआशरे का असल नुमाइंदा बनाकर दुनिया के सामने पेश किया जाता। लेकिन जैसे ही यह नुमाइंदे हुक्मरानों के साथ बैठते, वह अपनी क़ौम की गुरबत और उनके उजड़े हुए मोहल्लों का दर्द मुकम्मल तौर पर भूल जाते। यह दरअसल सियासतदानों और जज़्बाती रहनुमाओं का एक ऐसा खौफनाक इत्तेहाद था जिसमें हुक्मरानों की कुर्सियां भी महफूज़ रहीं और जज़्बाती रहनुमाओं की कयादत भी कायम रही, लेकिन इस नापाक सौदेबाज़ी में अगर किसी का कत्ल हुआ, तो वह मुल्क का गरीब और आम मुसलमान था जो आज तक मआशी तबाही का शिकार है। इस जज़्बाती कयादत ने मुआशरे को जो शदीद नफ़्सियाती और सामाजी नुकसान पहुँचाया है, उसका अंदाज़ा लगाना भी मुहाल है। इसने नौजवानों के ज़हनों में तालीम और तहकीक की जगह महज़ एहतेजाज और खौफ के बीज बो दिए। जब रहनुमा खुद ज़मीनी मसाइल से इस कदर कटे हुए हों, तो अवाम और कयादत के दरमियान एक निहायत ही खौफनाक और गहरी खलीज पैदा हो जाती है। यह खलीज किस कदर गहरी है और आज के दौर में मुआशरे का आला और खुशहाल तबका किस तरह गरीब और दस्तकार मुसलमान से मुकम्मल तौर पर बेगाना हो चुका है।

कयादत और आम मुसलमान के दरमियान निहायत गहरी खलीज

किसी भी क़ौम की तरक्की और उसकी सियासी बेदारी इस बात पर मुनहसिर होती है कि उसके रहनुमा और आम अवाम के दरमियान कितना गहरा और हकीकी राब्ता मौजूद है। एक हकीकी कयादत वह होती है जो अपने अवाम के दर्द को महसूस करे, उनकी गुरबत को समझे और उनके ज़मीनी मसाइल को अपना ज़ाती मसला तस्लीम करे।

लेकिन हिंदुस्तानी मुसलमानों के सियासी ज़वाल की दास्तान में यह एक निहायत ही कड़वी और दर्दनाक हकीकत है कि आज जो चंद चेहरे मुस्लिम कयादत के नाम पर मुल्क के ऐवानों या सियासी मंचों पर नज़र आते हैं, उनका मुल्क के आम, गरीब और दबे-कुचले मुसलमान से कोई दूर का भी वास्ता नहीं है। मुआशरे के अंदर एक ऐसी खौफनाक और गहरी खलीज पैदा हो चुकी है जिसने रहनुमाओं और अवाम को दो बिल्कुल मुख्तलिफ और अजनबी दुनियाओं में तक्सीम कर दिया है। यह खलीज सिर्फ मआशी हैसियत की नहीं, बल्कि नप्सियात, एहसास और हकीकी मसाइल से मुकम्मल बेगानगी की एक ऐसी दीवार है जिसे गिराना अब तकरीबन नामुमकिन नज़र आता है। अगर हम मुल्क के उन चंद मुस्लिम रहनुमाओं के पसमंज़र का गहराई से जायज़ा लें जो ऐवानों तक पहुँचने में कामयाब हुए हैं, तो यह बात मुकम्मल तौर पर वाज़ेह हो जाती है कि उनमें से ज़्यादातर का ताल्लुक मुआशरे के उसी आला, खुशहाल और रसूखदार तबके से है जिसे कभी गुरबत या सामाजी ज़िल्लत का सामना नहीं करना पड़ा। यह वह तबका है जो बड़े महलात में ज़िंदगी गुज़ारता है, जिनके बच्चे मुल्क या बैरून-ए-मुल्क के बेहतरीन और महंगे तालीमी इदारों में तालीम हासिल करते हैं, और जिन्हें कभी किसी सरकारी दफ्तर के बाहर धक्के खाने की नौबत नहीं आती। दूसरी तरफ, वह आम मुसलमान है जो खस्ताहाल बस्तियों और संकरी गलियों में सांस लेने पर मजबूर है, जिसका बच्चा इब्तिदाई तालीम के बाद ही स्कूल छोड़ने पर मजबूर हो जाता है, और जो दो वक्रत की रोटी के लिए रोज़ाना एक नई जद्दोज़हद करता है। जब एक रहनुमा ने कभी मुफलिसी की वह ज़िल्लत सही ही न हो, जब उसने कभी किसी फसाद के खौफ में रात न गुज़ारी हो, तो वह मुल्क के ऐवानों में उस गरीब दस्तकार या मज़दूर की हकीकी नुमाइंदगी कैसे कर सकता है? यह मआशी तज़ाद दरअसल वह सबसे बड़ी रुकावट है जिसने कयादत को अवाम के दर्द से मुकम्मल तौर पर अंधा कर दिया है। इस गहरी खलीज का सबसे खौफनाक असर उन सवालात और मसाइल पर पड़ता है जो मुल्क के बड़े ऐवानों में उठाए जाते हैं। जब यह खुशहाल और आला तबके के नुमाइंदे हुक्मरानों के सामने बैठते हैं, तो वह कभी भी उन मसाइल पर बात नहीं करते जो एक आम मुसलमान की ज़िंदगी और मौत का सवाल होते हैं। ऐवानों में कभी यह सवाल नहीं गूँजता कि मुरादाबाद, भिवंडी या अलीगढ़ के मुस्लिम दस्तकारों का पुश्तैनी कारोबार क्यों तबाह हो रहा है। कभी इस बात पर हंगामा नहीं होता कि मुस्लिम बस्तियों में सरकारी स्कूल और अस्पताल क्यों नहीं खोले जा रहे।

कभी मुल्क के माली इदारों के उस तास्सुब पर बहस नहीं होती जिसके तहत मुसलमानों को कर्ज़ देने से इंकार कर दिया जाता है। इसके बजाय, यह रहनुमा सिर्फ़ उन सतही, जज़्बाती या खयाली मौजूआत पर तकरीरें करते हैं जिनसे उनकी अपनी सियासी चमक तो बरकरार रहती है, लेकिन आम मुसलमान की ज़िंदगी में कोई रत्ती बराबर तब्दीली नहीं आती। यह दरअसल नुमाइंदगी के नाम पर अवाम के साथ किया जाने वाला सबसे बड़ा और मुज़रमाना फरेब है। रहनुमाओं की इस बेरुखी और आम अवाम से दूरी ने मुल्क के मुसलमान को नफ़िसियाती तौर पर निहायत तन्हा कर दिया है।

एक गरीब मुसलमान जब यह देखता है कि जो शख्स उसके मज़हब और उसकी शनाख्त का लिबास पहन कर उसके वोट मांगने आता है, वह दरअसल उसके दर्द से मुकम्मल तौर पर एक अजनबी इंसान है, तो उसका अपने मुआशरे के सामाजी ताने-बाने से एतमाद उठ जाता है। वह यह कड़वी हकीकत तस्लीम कर लेता है कि इस सियासी मंडी में सिर्फ़ उसके जज़्बात और उसके खौफ का सौदा किया जा रहा है।

मुआशरे का यह खुशहाल तबका अपने गरीब भाइयों को सिर्फ़ उस वक़्त याद करता है जब उसे हुकूमतों के सामने अपना सियासी वज़न साबित करना होता है। एक बार ऐवानों की कुर्सियां मिल जाएं, तो फिर यह रहनुमा उन गंदी बस्तियों का रुख करना भी अपनी तौहीन समझते हैं जहां से उन्हें ताक़त मिली थी। इस शदीद सामाजी तक्सीम और कयादत की इस मुकम्मल नाकामी ने हमें आज एक ऐसे चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया है जहां से पीछे मुड़कर देखना सिर्फ़ तबाही का मंज़र पेश करता है। माज़ी की गलतियों, गैर-मज़हबी सियासत के फरेब, जज़्बाती नारों की तबाही और अपनों की बेरुखी ने मुल्क के मुसलमान को सियासी तौर पर यतीम कर दिया है। लेकिन कोई भी क्रौम मुसलसल मायूसी के सहारे ज़िंदा नहीं रह सकती। इस घने अंधेरे से निकलने का रास्ता क्या है? हमारी आने वाली नई नस्ल को किस तरह एक नई, बा-सलाहियत और बेदार कयादत की तामीर करनी होगी जो खैरात नहीं बल्कि अपना दस्तूरी हक़ छीन सके?

मुस्तक़बिल का रास्ता और नई कयादत की अज़ीम तामीर

माज़ी की तारीख कितनी ही स्याह, फरेब और साज़िशों से भरी क्यों न हो, कोई भी ज़िंदा क़ौम मुसलसल मायूसी और मातम के सहारे अपना मुस्तक़बिल तामीर नहीं कर सकती। मुल्क की तक्रसीम के बाद पैदा होने वाले कयादत के खला, गैर-मज़हबी जमातों के खौफनाक फरेब, जज़्बाती नारों की तबाही और मुआशरे के आला तबके की बेरुखी ने हिंदुस्तानी मुसलमानों को जिस गहरी खलीज और लाचारी के मुकाम पर ला खड़ा किया है, वहां से अब सिर्फ दो ही रास्ते निकलते हैं। पहला रास्ता मुकम्मल तबाही, खामोशी और रियासत की गुलामी का है, जिसे मुल्क का मुसलमान पिछले कई दहाईयों से बर्दाश्त कर रहा है। और दूसरा रास्ता एक अज़ीम सामाजी बेदारी, शऊर और एक ऐसी नई कयादत की तामीर का है जो जज़्बात और खौफ की बुनियाद पर नहीं, बल्कि मुल्क के दस्तूर, तालीम और मआशी हकायक की बुनियाद पर खड़ी हो। अब वक़्त आ गया है कि मुल्क का मुसलमान रियासत से खैरात मांगना बंद करे और अपने आईनी हुक्क छीनने के लिए मुस्तक़बिल का एक नया और रोशन रास्ता इख्तियार करे।

इस नए रास्ते की सबसे पहली और बुनियादी शर्त यह है कि मुआशरे को सियासत के उस पुराने, बोसीदा और जज़्बाती निज़ाम को मुकम्मल तौर पर मुस्तरद करना होगा। नई नस्ल को यह बात अच्छी तरह ज़हन-नशीन करनी होगी कि मुल्क के ऐवानों में उनकी तकदीर के फैसले किसी मज़हबी नारे या एहतेजाजी जलसों से नहीं होते, बल्कि कानून साज़ी, दस्तावेज़ी हकायक और दस्तूरी दलीलों से होते हैं। अब हमें ऐसे रहनुमाओं की कतई ज़रूरत नहीं है जो महज़ हमारी शनाख़्त का वास्ता देकर हमें खौफज़दा करें और हमारे वोटों का सौदा करें। मुस्तक़बिल की कयादत उन नौजवानों, दानिशवरों और तालीम याफ़्ता अफ़राद के हाथों में होनी चाहिए जो मुल्क के आईन को गहराई से समझते हों, जो रियासत की माली दस्तावेज़ात का तज़्जिया कर सकते हों, और जो मुल्क के बड़े ऐवानों में हुक्मरानों की आंखों में आंखें डाल कर यह पूछ सकें कि हमारे रोज़गार और हमारी तालीम का हक़ कहां है। यह नई कयादत आसमान से नहीं उतरेगी और न ही यह किसी खुशहाल तबके के महलात से पैदा होगी।

एक हकीकी और ज़मीनी कयादत को मुआशरे की उन्हीं खस्ताहाल बस्तियों, दस्तकारों के उजड़े हुए मोहल्लों और मुफलिसी के शिकार कुनबों के दरमियान से जन्म लेना होगा। जब एक ऐसा नौजवान मुल्क के ऐवानों में पहुँचेगा जिसने खुद गुरबत का अज़ाब सहा हो, जिसने सरकारी दफ्तरों के तास्सुब का सामना किया हो और जो अपने अवाम की चीखों को पहचानता हो, तो वह कभी हुक्मरानों के सामने अपनी क्रौम का सौदा नहीं करेगा। इस नई कयादत की तामीर के लिए मुआशरे के हर फर्द को अपना किरदार अदा करना होगा। हमें अपने बच्चों को सिर्फ़ रिवायती तालीम तक महदूद नहीं रखना, बल्कि उनके अंदर सामाजी शऊर, सियासी बेदारी और मुल्क के कानूनी निज़ाम को समझने की सलाहियत पैदा करनी होगी। तालीम ही वह वाहिद और सबसे ताक़तवर हथियार है जो खौफ़ के इन तमाम बुतों को पाश-पाश कर सकता है। इसके साथ ही, हमें अपनी सियासी खुद-मुख्तारी को दोबारा ज़िंदा करना होगा। मुल्क की गैर-मज़हबी जमातों पर अंधा एतमाद करने के बजाय, मुसलमानों को अपने वोट की ताक़त को एक मुनज़ज़म और मुअस्सिर हथियार के तौर पर इस्तेमाल करना सीखना होगा। नई कयादत को चाहिए कि वह मुल्क के दीगर दबे-कुचले तबकात, दलितों और पसमंदा अवाम के साथ मिलकर एक ऐसा मुश्तरका सामाजी और सियासी मुहाज़ तैयार करे जो अक्सरियत परस्त ताक़तों का कानूनी और सियासी मैदान में डट कर मुकाबला कर सके। जब तक मुल्क का मुसलमान दीगर मजलूम तबकात के साथ मिलकर सामाजी इंसाफ़ की एक बड़ी तहरीक नहीं खड़ी करेगा, तब तक उसकी अपनी हिफाज़त और मआशी बका मुकम्मल तौर पर खतरे में रहेगी। मुस्तकबिल का रास्ता तन्हाई का नहीं, बल्कि मुश्तरका जद्दोजहद और दस्तूरी हुकूक की बेदारी का रास्ता है।

यह नया सफर निहायत दुश्वार और तवील ज़रूर है, लेकिन यही वह वाहिद रास्ता है जो हमारी आने वाली नस्लों को एक बा-इज़्ज़त और महफूज़ ज़िंदगी फराहम कर सकता है। माज़ी के खौफ़ को पीछे छोड़कर, अब एक ऐसा मुआशरा तामीर करने का वक़्त है जो अपने हुकूक के लिए लड़ना जानता हो। इस मुकम्मल सियासी तज़्जिये और माज़ी की गलतियों के मुहासबे के बाद, अब हमारी यह किताब अपने मुकम्मल और आखिरी अंजाम की तरफ बढ़ रही है, जहां हम हिंदुस्तानी मुसलमानों की बेहतरी के लिए ठोस तजवीज़ात और आगे का मुकम्मल रास्ता बयान करेंगे।

तेरहवां बाब: खुलासा और तजवीज़ात: आगे का रास्ता और हकीकी तरक्की के ठोस कदम

माज़ी का मुहासबा और मुकम्मल हालात का दर्दनाक निचोड़

इस किताब के इब्तिदाई सफहात से लेकर अब तक हमने हिंदुस्तानी मुसलमानों के सामाजी, मआशी और सियासी ज़वाल की जिस खौफनाक और दर्दनाक दास्तान का गहराई से जायज़ा लिया है, वह महज़ तारीख के चंद बिखरे हुए वाकियात नहीं हैं। जब हम इन तमाम हकायक, सरकारी दस्तावेज़ात और ज़मीनी तल्खियों को एक साथ जोड़ कर देखते हैं, तो हमारे सामने एक ऐसी मुकम्मल और मुनज़्ज़म साज़िश का चेहरा बेनकाब होता है जिसने एक पूरी की पूरी क़ौम को मुसलसल तबाही के गार में धकेल दिया। आज़ादी और मुल्क की तक्रसीम के फौरन बाद से ही एक ऐसी ज़हरीली और गैर-ऐलानिया हिकमत-ए-अमली की बुनियाद रख दी गई थी, जिसका वाहिद मक़सद हिंदुस्तान में रह जाने वाले मुसलमानों को सामाजी तौर पर अछूत, मआशी तौर पर मोहताज़ और सियासी तौर पर मुकम्मल गुलाम बनाकर रखना था। यह किताब उसी मुनज़्ज़म साज़िश और मुसलसल इस्तेहसाल के खिलाफ एक दस्तावेज़ी गवाही है।

माज़ी के इस मुहासबे में जो सबसे पहली और खौफनाक हकीकत उभर कर सामने आती है, वह मुसलमानों की मआशी कमर तोड़ने का मुनज़्ज़म मंसूबा है। मुल्क के दस्तकार, बुनकर और छोटे कारोबारी, जो सदियों से इस खित्ते की मआशत का एक मज़बूत सुतून थे, उन्हें जान-बूझकर तरक्की के धारे से काट दिया गया। सरकारी महकमों ने उनके पुश्तैनी कारोबार को तबाह करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। तालीम के दरवाज़े उन पर इस तरह बंद किए गए कि उनकी नई नस्ल आला तालीम हासिल करने के बजाय महज़ मज़दूरी और मुफलिसी की चक्की में पिस कर रह गई। मुल्क की आला सती मजलिसों और सरकारी दस्तावेज़ों ने जब खुद इस बात का एतराफ कर लिया कि मुसलमानों की हालत मुल्क के दीगर दबे-कुचले तबकात से भी बदतर हो चुकी है, तब भी रियासत के ज़मीर ने कोई हरकत नहीं की। उन्हें रोज़गार और तालीम में कोई कानूनी हिस्सेदारी देने के बजाय, चंद कागज़ी और झूठे फलाही मंसूबों के फरेब में उलझा कर मज़ीद जलील किया गया।

मआशी तबाही के साथ-साथ, सामाजी तौर पर मुसलमानों को जिस मुसलसल खौफ और दहशत का शिकार बनाया गया, वह रियासत की सबसे बड़ी और मुज़रमाना नाकामी का सुबूत है। मुल्क के कोने-कोने में भड़कने वाले फसादात महज़ कोई अचानक होने वाले वाकियात नहीं थे, बल्कि वह मुसलमानों को नपसियाती तौर पर तोड़ने का एक खौफनाक हथियार थे। इन फसादात में मुल्क के हिफाज़ती अमले ने मजलूमों का साथ देने के बजाय जिस तरह तरफदारी और तास्सुब का मुज़ाहिरा किया, उसने मुसलमानों को मुकम्मल तौर पर यह पैगाम दे दिया कि इस मुल्क में उनकी जान और आबरू की कोई कीमत नहीं है। अपनी हिफाज़त की खातिर मुसलमानों को अपने आबाई घरों से हिजरत करके तंग और खस्ताहाल बस्तियों में सिमटने पर मजबूर कर दिया गया। इन बस्तियों को जान-बूझकर बुनियादी सहूलियात, साफ पानी, स्कूलों और अस्पतालों से महरूम रखा गया, ताकि एक पूरी नस्ल को जहालत और बीमारियों के अंधेरे में दफन किया जा सके। अदालतें, जिन्हें इंसाफ का आखिरी दरवाज़ा समझा जाता है, वहां भी मजलूमों को सिर्फ तारीखें और मायूसी ही मिली। इस मआशी और सामाजी इस्तेहसाल को मुकम्मल कामयाबी उस वक़्त मिली जब मुल्क की गैर-मज़हबी सियासी जमातों ने मुसलमानों के इस खौफ का फायदा उठाकर उनके सियासी वजूद का मुकम्मल सौदा कर लिया। मुसलमानों ने अपनी हिफाज़त की भीख मांगते हुए अपनी कयादत और अपने दस्तूरी हुक्क इन जमातों के कदमों में डाल दिए। हुक्मरानों ने मुसलमानों को महज़ एक वोट देने वाले हुजूम में तब्दील कर दिया और बदले में उन्हें सिर्फ झूठे वादे और कागज़ी हमदर्दी फराहम की। दूसरी तरफ, मुआशरे के अंदर पैदा होने वाली जज़्बाती कयादत और आला तबके की बेरुखी ने आम गरीब मुसलमान को उसके हकीकी मसाइल से मज़ीद दूर कर दिया। आज मुल्क का मुसलमान सियासी, सामाजी और मआशी तौर पर एक ऐसे दोराहे पर खड़ा है जहां उसके पास मुसलसल ज़वाल के सिवा कुछ नज़र नहीं आता। लेकिन तारीख गवाह है कि जब कोई क्रौम अपने ज़वाल की इंतहा को पहुँच जाती है और अपने माज़ी की गलतियों का मुकम्मल मुहासबा कर लेती है, तो वहीं से उसकी बेदारी और तरक्की का नया सफर शुरू होता है। माज़ी के इस दर्दनाक निचोड़ का मक्रसद सिर्फ मायूसी फैलाना या आंसू बहाना नहीं है, बल्कि यह वह कड़वी दवा है जो हमें हमारी हकीकी बीमारी से आगाह करती है। अब हमें यह मुकम्मल तौर पर समझ लेना चाहिए कि कोई भी हुक्मत या सियासी जमात हमें खैरात में तरक्की नहीं देगी।

हमें अपने हुकूक खुद छीनने होंगे, और इसकी इब्तिदा हमें अपनी नई नस्ल को तालीम के ज़ेवर से आरास्ता करके करनी होगी। इल्म की यह अज़ीम ताक़त कैसे हासिल की जाए और तालीमी बेदारी का यह इंकलाब कैसे बरपा हो, यह हमारी पहली और सबसे अहम तजवीज़ है।

तालीमी बेदारी और इल्म की अज़ीम ताक़त

किसी भी दबी-कुचली और मजलूम क़ौम को ज़िल्लत और पसमंदगी के गार से निकालने का वाहिद और सबसे ताक़तवर हथियार सिर्फ़ और सिर्फ़ तालीम है। माज़ी के तल्ख़ तज़रबात और रियासत के मुसलसल फरेब ने यह हकीकत मुकम्मल तौर पर साबित कर दी है कि हुकूमतें कभी भी खुद आगे बढ़कर हमारे बच्चों के हाथों में इल्म की रौशनी नहीं देंगी। सरकारी इदारों की बेरुखी और मुस्लिम बस्तियों में स्कूलों की गैर-मौजूदगी का रोना रोने का वक़्त अब मुकम्मल तौर पर गुज़र चुका है। इसलिए, हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए मुस्तकबिल का सबसे पहला, बुनियादी और ना-गुज़ीर कदम एक अज़ीम तालीमी बेदारी का इंकलाब बरपा करना है। हमें यह कड़वी हकीकत तस्तीम करनी होगी कि जहालत मुफलिसी से भी बड़ा और खौफनाक अज़ाब है। अगर हमारी आने वाली नस्ल तालीम के ज़ेवर से महरूम रही, तो वह हमेशा के लिए सामाजी, सियासी और मआशी गुलामी की जंजीरों में जकड़ दी जाएगी। मुआशरे के हर फर्द, हर कुनबे और हर वालिदैन को यह पुख्ता अहद करना होगा कि चाहे उन्हें दो वक़्त की रोटी मयस्सर न हो, चाहे उन्हें अपनी बुनियादी ख्वाहिशात का गला घोटना पड़े, लेकिन वह अपने बच्चों को आला तालीम दिलाने में कोई कसर बाकी नहीं रखेंगे। इस तालीमी बेदारी के लिए हमें खैरात या सरकारी मंसूबों का इंतज़ार करने के बजाय, अपनी मदद आप के तहत अपने तालीमी इदारे खुद कायम करने होंगे। मुआशरे के सरमायादारों, दानिशवरों और साहिब-ए-हैसियत अफराद पर यह एक बहुत बड़ा सामाजी और मज़हबी फरीज़ा आयद होता है कि वह अपने सरमाये को महलात तामीर करने, शान-ओ-शौकत दिखाने या बेजा तकरीबात पर खर्च करने के बजाय, अपनी ही खस्ताहाल बस्तियों में मियारी तालीमी इदारे और तरबियती मरकज़ कायम करने पर सर्फ़ करें। हमें मुल्क के कोने-कोने में ऐसे इल्मी मरकज़ तामीर करने होंगे जहां हमारे बच्चे ना सिर्फ़ जदीद और आला इल्म हासिल कर सकें, बल्कि उनके अंदर मुल्क के बड़े और सख्त मुसाबकती इम्तेहानात में हिस्सा लेने का हौसला और सलाहियत भी पैदा हो सके।

इल्म के मैदान में हमें एक ऐसी बेदार नस्ल तैयार करनी है जो रियासत से वज़ीफे और हमदर्दी मांगने के बजाय, अपनी ज़हानत और काबलियत की बुनियाद पर मुल्क के आला तरीन ओहदों, अदालत के ऐवानों और सरकारी महकमों में अपनी जगह खुद बनाए।

तालीमी बेदारी के इस अज़ीम सफर में हमारे दीनी मदारिस का किरदार भी निहायत अहम और लाज़िमी है। मदारिस ने सदियों तक हमारे मुआशरे में इल्म की शमा को रौशन रखा है और सबसे गरीब तबके को तालीम से जोड़े रखा है। लेकिन आज के इस जदीद और तेज़ी से बदलते हुए दौर में, मदारिस के निज़ाम-ए-तालीम में एक मुकम्मल और हकीकी इंकलाब की शदीद ज़रूरत है। हमें अपनी बुनियाद और दीनी रिवायत को महफूज़ रखते हुए, मदारिस के निसाब में असरी और जदीद उलूम, रियाज़ी, साइंस और जदीद तकनीक को बाज़ाब्ता तौर पर शामिल करना होगा। मुआशरे को यह यकीनी बनाना होगा कि मदरसे से फारिग होने वाला तालिब-ए-इल्म सिर्फ मज़हबी रहनुमाई तक महदूद न रहे, बल्कि वह मुल्क के सामाजी, मआशी और सियासी धारे में भी एक कामयाब और बा-सलाहियत इंसान की हैसियत से अपना मुकाम हासिल कर सके। जब एक ही वक़्त में दीनी और दुनियावी इल्म का मुकम्मल संगम होगा, तो हमारे मुआशरे से ऐसी अज़ीम कयादत जन्म लेगी जो हकीकी मायनों में क़ौम की रहनुमाई कर सकेगी।

इल्म की यह अज़ीम ताक़त ही वह वाहिद रास्ता है जो हमारे नौजवानों के ज़हनों से खौफ, मायूसी और एहसास-ए-कमतरी के जाले मुकम्मल तौर पर साफ कर सकती है। जब एक क़ौम तालीम याफ़ता हो जाती है, तो वह मुल्क के दस्तूर और अपने आईनी हुकूक को गहराई से पहचानने लगती है, और कोई भी ताक़तवर ज़ालिम या फरेबी सियासतदान उसे आसानी से अपना गुलाम नहीं बना सकता। तालीम के इसी इंकलाब की मज़बूत बुनियाद पर हम अपनी मआशी खुद-मुख्तारी की अज़ीम इमारत भी तामीर कर सकते हैं। खैरात और सरकारी कज़ों का इंतज़ार करने के बजाय, हम अपने हुनर और अपनी मेहनत से अपनी मआशत को कैसे मज़बूत कर सकते हैं, यह हमारी दूसरी और निहायत अहम तजवीज़ है।

मआशी खुद-मुख्तारी और हुनरमंदी का अज़ीम फरोग

तालीम के अज़ीम इंकलाब के साथ-साथ, किसी भी मुआशरे की बका, तरक्की और सामाजी वकार के लिए जो दूसरा सबसे ना-गुज़ीर कदम है, वह मुकम्मल मआशी खुद-मुख्तारी का हुसूल है। माज़ी के तल्ख तज़रबात, सरकारी महकमों के तास्सुब और फलाही मंसूबों के फरेब ने हमारे सामने यह हकीकत मुकम्मल तौर पर वाज़ेह कर दी है कि अगर हम अपनी मआशी तरक्की के लिए सिर्फ रियासत के रहम-ओ-करम या सरकारी कर्ज़ों के इंतज़ार में बैठे रहे, तो हमारी आने वाली नस्लें भी मुफलिसी और मोहताजी की उसी जंजीर में जकड़ी रहेंगी। अब वक़्त आ गया है कि मुल्क का मुसलमान खैरात और वज़ीफों की इस ज़हनीयत को मुकम्मल तौर पर मुस्तरद कर दे और अपनी मआशी ताक़त को अपने ही बलबूते पर तामीर करने का अज़ीम फैसला करे। मआशी आज़ादी के बिना कोई भी सामाजी या सियासी आज़ादी मुमकिन नहीं है। जब तक एक आम मुसलमान की जेब में अपनी मेहनत की हलाल कमाई और अपने कारोबार की ताक़त नहीं होगी, तब तक मुल्क के ऐवानों में उसकी आवाज़ को कभी संजीदगी से नहीं सुना जाएगा। मआशी खुद-मुख्तारी के इस अज़ीम सफर की इब्तिदा हमें अपने दस्तकारों और हुनरमंदों की तरक्की से करनी होगी। यह एक तारीखी हकीकत है कि हिंदुस्तानी मुसलमान सदियों से मुल्क के बेहतरीन दस्तकार, कारीगर और हुनरमंद रहे हैं। लेकिन रियासत की बेरुखी और बदलते हुए ज़माने के साथ कदम न मिला पाने की वजह से उनका यह पुश्तैनी हुनर तबाही के दहाने पर पहुँच गया है। अब हमें अपनी इस रिवायती हुनरमंदी को नए ज़माने के तक्राज़ों और जदीद बाज़ारों के साथ हम-आहंग करना होगा। मुआशरे के तालीम याफ़्ता नौजवानों और दानिशवरों को चाहिए कि वह अपने गरीब दस्तकार भाइयों की रहनुमाई करें, उन्हें कारोबार के जदीद तरीके सिखाएं और उनके माल को सीधे बड़े बाज़ारों तक पहुँचाने का ऐसा मुनज़्ज़म निज़ाम कायम करें जिसमें दरमियानी फरेबी लोगों का कोई दखल न हो। हमें ऐसे छोटे और दरमियानी सनअती इदारे खुद कायम करने होंगे जहां हमारे हुनरमंदों को इज़्ज़त की रोज़ी मयस्सर आ सके। मआशी खुद-मुख्तारी हासिल करने के लिए सबसे बड़ी और ठोस तजवीज़ बाहमी तआवुन और मुआशरे के अंदर माली इदारों (बैत-उल-माल) का कयाम है। जब मुल्क के सरकारी और गैर-सरकारी माली इदारे हमारे कारोबारियों को कर्ज़ देने से गुरेज़ करते हैं, तो हमें अपने सरमाये से अपना माली निज़ाम खुद तश्कील देना होगा।

मुआशरे के सरमायादारों, बड़े ताजिरोँ और खुशहाल तबके पर यह अज़ीम फरीज़ा आयद होता है कि वह अपना सरमाया गैर-मुतल्लिक जगहों पर ज़ाया करने के बजाय, अपने ही मुआशरे के छोटे कारोबारियों और नौजवानों की सरपरस्ती में सर्फ करें। हर शहर और हर मोहल्ले की सतह पर अवामी तआवुन से ऐसे माली फंड कायम किए जाएं जहां से एक गरीब दस्तकार या छोटे ताजिर को अपना कारोबार शुरू करने के लिए ब-आसानी और बिना किसी सूद के माली मदद फराहम की जा सके। यह बाहमी तआवुन ही वह वाहिद रास्ता है जो हमारे सरमाये को हमारे ही मुआशरे की तरक्की का ज़रिया बना सकता है।

इसके साथ ही, हमें अपने मुआशरे के अंदर एक ऐसा मआशी निज़ाम कायम करना होगा जो एक-दूसरे को मज़बूत करे। हमें अपने रोज़मर्रा की ज़रूरयात और खरीदारी में अपने ही मुआशरे के छोटे ताजिरोँ, दुकानदारों और दस्तकारों को तरजीह देनी होगी। जब एक मुसलमान ताजिर कामयाब होगा, तो वह अपने ही मुआशरे के चार नौजवानों को रोज़गार फराहम करेगा। यह मआशी इत्तेहाद न सिर्फ हमारी गुरबत को खत्म करेगा, बल्कि यह हमें सामाजी तौर पर भी एक ना-काबिले तस्खीर ताक़त बना देगा। जब कोई क्रौम मआशी तौर पर खुद-मुख्तार हो जाती है, तो मुल्क की सियासत और हुकूमतें भी उसके सामने झुकने पर मजबूर हो जाती हैं।

माजी यकजहती और कानूनी शऊर की अज़ीम बेदारी

तालीम और मआशी मज़बूती के साथ-साथ मुआशरे को जिस तीसरी सबसे बड़ी ताक़त की शदीद ज़रूरत है, वह सामाजी यकजहती और आपसी इत्तेहाद है। आज हमारे मुआशरे का सबसे बड़ा अलमिया और सबसे खौफनाक अंदरूनी कमज़ोरी यह है कि आला और खुशहाल तबका अपने गरीब और दबे-कुचले भाइयों से मुकम्मल तौर पर कट चुका है। जब तक यह सामाजी खलीज खत्म नहीं होगी, कोई भी क्रौम तरक्की की मंज़िल तय नहीं कर सकती। मुआशरे के हर साहिब-ए-हैसियत फर्द को यह कड़वी हकीकत तस्लीम करनी होगी कि उसकी ज़ाती कामयाबी और उसके महलात उस वक़्त तक मुकम्मल तौर पर महफूज़ नहीं हैं, जब तक उसकी बस्ती का आखिरी गरीब और नादार इंसान भी इज़ज़त की ज़िंदगी गुज़ारने के काबिल न हो जाए।

हमें अपने दिलों से ऊंच-नीच, बिरादरी और मआशी हैसियत के तमाम तास्सुबात को जड़ से मिटा कर एक ऐसी सीसा पिलाई हुई दीवार बनना होगा, जिसे कोई भी ज़ालिम ताक़त या सियासी फरेब कभी तोड़ न सके। इस सामाजी इत्तेहाद के साथ जो चीज़ हमें मुल्क के ऐवानों और अदालतों में हकीकी तौर पर ताक़तवर बनाएगी, वह हमारे अंदर कानूनी शऊर की बेदारी है। माज़ी में हमने अपने हुकूक की खातिर सिर्फ जज़्बाती एहतेजाज किए हैं और नारों का सहारा लिया है, लेकिन आज की जदीद दुनिया और जम्हूरी निज़ाम में जज़्बात से ज़्यादा दलीलों, दस्तावेज़ों और कानून की हुक्मरानी होती है। मुल्क के दस्तूर ने हमें जो बुनियादी हुकूक अता किए हैं, हमारे अवाम की एक बहुत बड़ी तादाद उनसे मुकम्मल तौर पर ना-वाकिफ है। अपनी नई नस्ल के अंदर हमें यह शऊर बेदार करना होगा कि वह मुल्क के कानून, दस्तूर और अदालती निज़ाम को निहायत गहराई से समझें। जब एक आम नौजवान को यह मालूम होगा कि रियासत के किस महकमे से अपना हक़ कैसे कानूनी तरीके से हासिल किया जाता है, तो कोई भी हुदेदार उसे अपने दफ्तर से दुत्कार कर खाली हाथ वापस नहीं भेज सकेगा।

कानूनी शऊर की इस बेदारी को एक मुनज़ज़म और ताक़तवर शक्ल देने के लिए हमें मुल्क भर में अपने आज़ाद और मज़बूत कानूनी इदारे कायम करने होंगे। मुआशरे के आला तालीम याफ़्ता कानूनी माहिरों पर यह अज़ीम ज़िम्मेदारी आयद होती है कि वह मुत्तहिद होकर ऐसे मरकज़ तश्कील दें जहां मजलूमों को मुफ्त या निहायत कम खर्च पर कानूनी रहनुमाई फराहम की जा सके। जब भी किसी बस्ती में फसाद भड़के, किसी का कारोबार तबाह किया जाए, या किसी बेगुनाह नौजवान को झूठे मुकद्मात में फंसाया जाए, तो उसे अदालतों की दहलीज़ पर तन्हा और बेबस न छोड़ा जाए। यह कानूनी इदारे मुकम्मल दस्तावेज़ात और दलीलों के साथ ज़ालिमों के खिलाफ अदालतों में एक मज़बूत दीवार बनकर खड़े हों। जब रियासत और मुज़रिमों को यह खौफ होगा कि मजलूम अब तन्हा नहीं है और उसके पीछे एक मुकम्मल कानूनी ताक़त मौजूद है, तो ज़ुल्म और नाइंसाफी का यह सिलसिला खुद-ब-खुद थम जाएगा। माजी यकजहती और कानूनी शऊर का यह अज़ीम इत्तेहाद हमें रियासत के सामने भीख मांगने वाले हुजूम से निकाल कर एक बा-वकार, बेदार और ताक़तवर क़ौम में तब्दील कर देगा।

जब हमारे पास तालीम की रौशनी, मआशी खुद-मुख्तारी और कानून की मज़बूत ढाल होगी, तो मुल्क का कोई भी सियासी निज़ाम हमें हमारे जायज़ और दस्तूरी हुक्क से महरूम नहीं रख सकेगा। अब वक्त्र आ गया है कि हम माज़ी की तमाम ज़िल्लतों को भूल कर अपने मुस्तकबिल की तामीर के लिए इन अज़ीम रास्तों पर कदम बढ़ाएं।

मुस्तक़बिल का पैगाम और नई नस्ल की अज़ीम ज़िम्मेदारी

तारीख के सफ़हात गवाह हैं कि कौमें अपने हालात की खराबी की वजह से नहीं, बल्कि अपने हौसलों की हार से फना होती हैं। माज़ी की गलतियों, हुक्मती फरेब, सामाजी ज़िल्लतों और मआशी तबाही की जो मुफ़स्सल और कड़वी दास्तान इस किताब में दर्ज की गई है, उसका मक़सद हमारी आने वाली नस्ल को मायूस करना या उनके दिलों में खौफ पैदा करना हरगिज़ नहीं है। बल्कि, यह माज़ी का मुहासबा दरअसल एक अज़ीम बेदारी का अलार्म है। यह एक ऐसी तारीखी दस्तावेज़ है जो हमारी नई नस्ल को यह बताएगी कि जब उनके आबा-ओ-अजदाद एक घने सामाजी और सियासी अंधेरे में घिरे हुए थे, तो उन्होंने खामोशी से मरने के बजाय मुस्तकबिल की तामीर का मुश्किल तरीन रास्ता चुना। आज की नई नस्ल पर यह एक अज़ीम और तारीखी ज़िम्मेदारी आयद होती है कि वह अब इस मुसलसल रोने, मायूस होने और हुक्मतों से भीख मांगने की रिवायत को हमेशा के लिए दफन कर दे। उन्हें यह बात मुकम्मल तौर पर समझनी होगी कि उनके वजूद की हिफाज़त किसी सियासी जमात के रहम-ओ-करम या कागज़ी मंसूबों में नहीं, बल्कि उनके अपने इल्म, उनके सामाजी शऊर और उनके मआशी वकार में पोशीदा है।

नई नस्ल को अपने ज़हनों से यह एहसास-ए-कमतरी मुकम्मल तौर पर खुरच कर निकाल देना होगा कि वह इस मुल्क में दौयम दर्जे के शहरी हैं या उन्हें यहां रहने के लिए किसी के एहसान की ज़रूरत है। यह वतन, इसकी मिट्टी, इसके इदारे और इसका दस्तूर उतना ही उनका है जितना मुल्क के किसी और बाशिंदे का है। लेकिन यह एक कड़वी हकीकत है कि हुक्क खैरात में नहीं मिलते, उन्हें अपनी काबलियत, ज़हानत और एक ना-काबिले तस्खीर इत्तेहाद की ताक़त से छीनना पड़ता है। हमारे नौजवानों को अब जज़्बाती नारों, खोखली तकरीरों और सड़कों के बे-मक़सद एहतेजाज से निकल कर एक नई दुनिया फतह करनी होगी।

उन्हें जामियात की इल्मी फिज़ाओं, मुल्क की आला अदालतों, मआशी इदारों और बड़े सरकारी महकमों पर अपनी काबलियत का सिक्का जमाना होगा। उन्हें एक ऐसी अज़ीम और बा-सलाहियत कयादत तामीर करनी होगी जो हुक्मरानों की आंखों में आंखें डाल कर दस्तूर की ज़बान में बात कर सके, और जिसकी दलीलों के सामने जुल्म और तास्सुब का हर निज़ाम घुटने टेकने पर मजबूर हो जाए।

यह किताब दरअसल उसी अज़ीम इंकलाब का एक इब्तिदाई मुसव्वदा है। हमारी इस दास्तान का इख्तिताम तबाही, गुरबत या बेबसी पर नहीं, बल्कि एक अज़ीम बेदारी पर होता है। जब हमारी नई नस्ल अपने हाथों में तालीम का कलम, अपने ज़हनों में दस्तूर की मुकम्मल समझ और अपने दिलों में बे-खौफ हौसला लेकर उठेगी, तो तारीख का पहिया यकीनन बदलेगा। वह दिन इस मुआशरे की हकीकी आज़ादी और सामाजी इंसाफ का दिन होगा, और उसी दिन यह क्रौम अपनी खोई हुई इज़्ज़त और अपना छीना हुआ मुकाम पूरी शान-ओ-शौकत के साथ वापस हासिल करेगी। इसी उम्मीद, इसी यकीन और इसी अज़ीम ज़िम्मेदारी के साथ, हम माज़ी की इस दास्तान को आने वाली बेदार और ताक़तवर नस्लों के हवाले करते हैं।

पाठकों के लिए सूचना: आपत्ति एवं सुधार

इस पुस्तक, **खामोश साज़िश से अज़ीम बेदारी तक (हिंदुस्तानी मुसलमानों की दास्तान-ए-ज़वाल और मुस्तक़बिल का रास्ता)**, का उद्देश्य सामाजिक विषयों पर विचार और संवाद प्रस्तुत करना है। किसी व्यक्ति, संस्था या समुदाय की प्रतिष्ठा को अनुचित रूप से ठेस पहुँचाना लेखक एवं प्रकाशक का उद्देश्य नहीं है।

यदि किसी पाठक, व्यक्ति या संस्था को पुस्तक के किसी कथन, तथ्य, उद्धरण अथवा उल्लेख पर आपत्ति हो, तो उनसे निवेदन है कि संबंधित पृष्ठ संख्या, आपत्ति का स्पष्ट विवरण और उपलब्ध प्रमाण सहित लेखक या प्रकाशक को लिखित रूप में सूचित करें। प्रत्येक शिकायत पर गंभीरता और निष्पक्षता से विचार किया जाएगा। जाँच में कोई तथ्यात्मक त्रुटि अथवा अनुचित उल्लेख प्रमाणित होने पर आवश्यकतानुसार स्पष्टीकरण, संशोधन या संबंधित अंश हटाने की कार्रवाई की जाएगी। ऐसे सुधार आगामी संस्करण तथा उपलब्ध डिजिटल संस्करण में यथासंभव शामिल किए जाएँगे।

लेखक एवं प्रकाशक की अपेक्षा है कि किसी न्यायिक कार्रवाई से पहले संवाद और सुधार के माध्यम से विषय के समाधान का अवसर दिया जाए। यह अनुरोध किसी व्यक्ति के वैधानिक अधिकार, कानूनी समय-सीमा अथवा तत्काल न्यायिक राहत पाने के अधिकार को सीमित नहीं करता।

नोट: लागू कानून द्वारा अनुमत सीमा तक, इस पुस्तक से संबंधित किसी भी कानूनी विवाद का निपटारा केवल **देवबंद, जिला सहारनपुर, उत्तर प्रदेश** के सक्षम न्यायालय में होगा।

लेखक: **डॉ. सैयद नासिर शाह**

प्रकाशक: **Qalamse.com**

आपत्ति एवं सुधार हेतु ईमेल:

Redox55@gmail.com



मुसन्निफ़ के बारे में..

डॉ. सैयद नासिर शाह कोई नामवर पत्रकार या रिवायती अदीब (लेखक) नहीं हैं। वह इस मुल्क के करोड़ों आम, ज़मीन से जुड़े और तालीम-याफ़्ता हिंदुस्तानियों की उस भीड़ का एक खामोश चेहरा हैं, जो रोज़ाना अपनी आंखों के सामने अपने समाज और उसकी तहज़ीब को बदलते हुए देख रहे हैं।

सियासत और मीडिया के शोरगुल से दूर, **डॉ. सैयद नासिर शाह** एक ऐसे संवेदनशील इंसान हैं जो मुल्क के दुख-दर्द और समाज की बदलती हुई नफ़्सीयात को बहुत गहराई से महसूस करते हैं। उनका ताल्लुक एक ऐसे सादे परिवार से है जहाँ तालीम, इंसानियत और मुल्क की गंगा-जमुनी तहज़ीब को सबसे बड़ा सरमाया माना जाता है। यह किताब **“खामोश साज़िश से अज़ीम बेदारी तक (हिंदुस्तानी मुसलमानों की दास्तान-ए-ज़वाल और मुस्तक़बिल का रास्ता)”** किसी बंद कमरे या लाइब्रेरी में बैठकर नहीं लिखी गई है। यह उन तज़ुर्बात, उस बेबसी और उस ज़हनी घुटन का सच्चा निचोड़ है जिसका सामना आज एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान सड़कों पर, ट्रेनों में और अपने रोज़मर्रा के सफ़र में कर रहा है।

उनका यह पुख्ता यकीन है कि नफ़रत का जवाब कभी भी नफ़रत या जज़्बात से नहीं दिया जा सकता, बल्कि इसका मुकाबला सिर्फ़ और सिर्फ़ तालीम, दलील और हिकमत से ही मुमकिन है। अपनी इस किताब के ज़रिए उन्होंने मुल्क के उस खामोश तबके को एक बेबाक आवाज़ देने की कोशिश की है, जिनकी हकीकत को टीवी की स्क्रीन और सोशल मीडिया के झूठे शोर ने बहुत गहरे दफन कर दिया है। डॉ. सैयद नासिर शाह की यह कोशिश महज़ कुछ लफ़्ज़ों या पन्नों का सफ़र नहीं है, बल्कि यह एक आम इंसान की अपनी पहचान, अपने वजूद और अपने मुल्क से बेपनाह मोहब्बत की एक मुकम्मल और सच्ची दास्तान है।